प्रकाशक—
सन्मति-ज्ञान-पीठ,
लोहामंडी, आगरा

प्रथम बार १९५६
संवत् २०१२
मूल्य तीन रुपये

# अपनी बात

कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी महाराज के नाम की आज स्थानकवासी जैन समाज के ओर-छोर तक काफी धूम है। उनके आकर्षणशील व्यक्तित्व की जन-जन के मन-मन पर एक गहरी छाप है। वे समाज के एक प्रतिष्ठित सन्त है, प्रौढ विचारक है, चोटी के लेखक है, प्रखर प्रवक्ता हैं। मधुर मुस्कान के साथ उनके प्रवचन की ओजस्विता जन-मन-नयन को चुम्बक की तरह बलात् अपनी ओर खींच लेती है। एक बार भी, जो उनका धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं से ओत-प्रोत प्रवचन सुन लेता है, वह हमेशा के लिए उनका बन जाता है। ऐसा जादू है उनकी ओजस्विनी वाणी मे!

उनकी प्रवचन-शैली सरल, परिमार्जित, मर्मस्पर्शी और दार्शनिकता से सम्पृक्त है। उनके विचारों में गाम्भीर्य है, उनकी वाणी मे ओज है, उनकी भाषा में सरसता, सजीवता, प्राजलता एव प्रवाहशीलता है। उनके प्रवचनों में साक्षात भारतीय संस्कृति की आत्मा बोलती है! उनका धारा-प्रवाह, चिन्तन-प्रधान और माधुर्य-पूर्ण प्रवचन जिस मधुर वातावरण की सृष्टि करता है, वह श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर देता है। जिन्होंने उनकी अहिंसा-दर्शन, सत्य-दर्शन, अस्तेय-दर्शन, ब्रह्मचर्य-दर्शन, अपरिग्रह-दर्शन, जीवन-दर्शन आदि प्रवचन-पुस्तकें पढ़ी है, वे उनकी बहुश्रुतता अगाध पाण्डित्य और ओज-भरी वक्तृता के कायल हुए बिना नहीं रह सकते।

'प्रकाश की ओर' में समाज के उन्हीं मनीषी प्रवचनकार के जयपुर में दिए गए मौलिक प्रवचनों का सकलन है। उनके सम्पादन का भार जब मुझ-जैसे नौसिखिए अभ्यासी पर डाला गया, तो मैं कुछ आगे-पीछे देखने लगा। पर, मन ने एक साहस की अँगड़ाई लेकर वाणी पर जोर डाला, तो सम्पादन का दायित्व मुझे अपने ऊपर लेना पड़ा।

सम्पादन का दायित्व सभालते ही मेरे एक निकटतम कृपालु साथी का—जो समाज मे आज एक विशिष्ट सम्पादक और एक विलक्षण कलम-कलाधर जाने-माने जाते है—आदेश-निर्देश आया कि—"प्रवचनो के सम्पादन मे अपनी विशिष्ट एव कलात्मक शैली का परिचय देना।"

मै विचार मे पड गया अपने साथी की इस बात पर ! सोचा अपनेराम के पास तो अपनी निजी कोई विशिष्ट शैली है नही। शैली और वह भी विशिष्ट ! मेरे लिए यह एक चौकाने वाली बात थी ! थोडी देर के लिए मान भी ले कि किसी के पास कोई शैली है भी, तो उसके बहुत से मैदान सूने पडे है अपनी विशिष्ट शैली का चमत्कार दिखलाने के लिए तो !

नहीं है। उनकी भावधारा ऐसी धारावाहिक है कि जो दूसरों के स्पर्श तक से परहेज करती है। दूसरे की कलम का स्पर्श होते ही वह टूटती-सी, मुरझाई हुई-सी, गाठ-गठीली-सी नजर आने लगती है।

इन्हीं सब दृष्टि कोणों को ध्यान मे रखते हुए अपने कृपालु साथी की बात मेरे गले नहीं उतर सकी। मेरा विचार कुछ ऐसा है कि किसी भी प्रवचनकार के प्रवचनों मे उसकी आत्मा, प्राण और शरीर—तीनों को सुरक्षित रहने का पूरा-पूरा अवसर मिलना चाहिए। जिससे पाठक प्रवचनकार से अपना सीधा सम्बन्ध जोड सके। आत्मा का अर्थ है—प्रवचनकार की भावधारा, प्राण का अर्थ है—उसकी शैली का धारावाहिक चमत्कार और शरीर का अर्थ है—उसकी भाषा की सहज प्रवहण-शीलता।

श्रद्धेय गुरुदेव के इन प्रवचनों का सम्पादन करते समय मैंने उनके भाव, भाषा और शैली—तीनों के प्रति पूर्णत वफादार और ईमानदार रहने की पूरी-पूरी कोशिश की है। मैंने डग-डग पर इस बात का ध्यान रक्खा है कि उनके भाव, भाषा और शैली ज्यों-के-त्यों सुरक्षित रह सकें। प्रवचनों को पढते समय प्रत्येक पाठक यह महसूस कर सकें कि मानो मैं साक्षात कवि श्री जी के सामने बैठा हुआ उनके मुखारविन्द से ही उनका प्रवचन सुन रहा हूँ। मैं अपने इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल हो सका हूँ, यह-सब तो पाठकों पर ही निर्भर करता है।

इसके अतिरिक्त, मैं यह कहने का लोभ सवरण नहीं कर सकता कि आज के युग में श्रद्धेय गुरुदेव के इन प्रवचनों का अपना एक बहुत बडा मूल्य है। जन-मानस मे आज गहरा अधेरा है। उस अँधेरे की बदौलत ही आपस मे पिता-पुत्र टकरा रहे हैं, भाई-भाई टकरा रहे हैं, अध्यापक-छात्र टकरा रहे हैं, मालिक-मजदूर टकरा रहे हैं। समूचे समाज और राष्ट्र में एक विस्फोटक स्थिति चल रही है। देश में जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रान्तवाद, भाषावाद की विनाशकारी शक्तियाँ

अपना सिर उठा रही है। समूचा भारत आज अच्छाई मे सिमट रहा है और बुराई मे फैल रहा है। अच्छाई मे सिमटने का अर्थ है—प्रकाश विलीन हो रहा है और अन्धकार अपने पैर फैला रहा है। चारों ओर एक गहरा सन्नाटा है!

ऐसी अन्ध-स्थिति मे, श्रद्धेय गुरुदेव के ये प्राणमय प्रवचन अपने नव-जागरण के सन्देश से व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के अन्तर मे व्याप्त अन्धतमस को भेदकर एक नव अलोक का दर्शन कराएँगे, और अपने ओज-पूर्ण सस्पर्शों से जन-मानस मे रमते हुए विशुद्ध मानवता की नींव को सुदृढ़ करेंगे—यह अधिकार की भाषा मे कहा जा सकता है। क्योंकि, इनकी स्वत स्फूर्त सर्वाङ्गीण दृष्टि मानव के भीतर की मौलिक चेतना-प्रेरणा को उद्बुद्ध करने की पूर्ण क्षमता रखती है। दूसरे शब्दों में, इन प्रवहणशील प्रवचनो मे वह दिव्य शक्ति है, जिसमें प्राणमय आशावादी स्वर गूँजते हुए व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के नव-निर्माण की नव्य स्फूर्ति प्रदान करते है। सचमुच, भारतीय सस्कृति की गौरवशालिनी परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए प्रवचकार ने अपने इन प्रवचनों में जीवन और उसके व्यापक सत्यो को पकडा है, जाँचा है, परखा है। और, इसीलिए ये प्रवचन व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के अन्दर एक नव चैतन्य जगाकर उसके जीवन की गति को एक नया मोड दे सकेंगे, उसे अन्धकार से प्रकाश की ओर लेजा सकेंगे, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

प्रूफ-सशोधन का सारा भार मेरे स्नेही साथी श्री सुबोध मुनिजी पर रहा है। इसलिए उनके श्रम के मूल्य-महत्व को विस्मरण नहीं किया जा सकता।

वसन्त पचमी,<br>
१६ फरवरी, १६५६<br>
जैन भवन<br>
लोहामण्डी, आगरा

—सुरेश मुनि

# प्रकाशकीय

आज व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन में एक गहरा अवेग है। व्यक्ति अपने विचारों में उलझा हुआ है। परिवार अपने स्वार्थों की संकीर्णताओं से घिरा हुआ है समाज जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं गलत रीति-रिवाजों और रूढ़ धारणाओं के शिकंजे में जकड़ा हुआ है, राष्ट्र साम्प्रदायिकता, जातीयता, और भाषावाद के झमेले में पड़ा हुआ है।

ऐसी विकट स्थिति में, 'प्रकाश की ओर' को एक जलती हुई मशाल के रूप में पाठकों के हाथों में थमाते हुए मेरे मन का कोना-कोना हर्ष के प्रकाश से चमक रहा है। जन-मानस में फैले हुए अन्धकार को प्रकाश में बदलने के लिए यह मशाल पाठकों को पग-पग पर सहायक हो सकेगी—ऐसा पूर्ण विश्वास है।

जयपुर में दिए गए कवि श्री जी के इन प्रवचनों के सम्पादन का दायित्व सुरेश मुनिजी ने पूरा किया है। गुरु प्रवक्ता है और शिष्य सम्पादक है। कैसा सुन्दर मेल मिला है! गुरु की भावनाओं और शैली को जितनी सरलता और सफलता के साथ एक शिष्य पकड़ सकता है, उतनी दूसरा व्यक्ति नहीं—यह सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट है। मुझे प्रसन्नता है कि शिष्य ने गुरु के भाव, भाषा और शैली—तीनों को ज्यों-का-त्यों उतार दिया है। उनकी इस सफलता पर मुझे गर्व है!

साथ ही, मैं राजस्थान विधान-सभा के रिपोर्टर बा० प्रेमराज जैन का पुण्य स्मरण करना भी अपना कर्तव्य समझता हूँ। जयपुर में दिए गए कवि श्री जी के मौलिक प्रवचनों की अवैतनिक रूप में शीघ्र लिपि करके आपने समाज की महती सेवा की है। उनकी बदौलत ही ये प्रवचन पाठकों तक पहुँच रहे हैं। आज के इस श्रम-युग में उनके निष्काम श्रम का मूल्य-महत्त्व बहुत बड़ा है। मैं कृतज्ञता के साथ उनका आभार-प्रदर्शन करता हूँ।

—मंत्री

# विषय-सूची

# प्रकाश की ओर

"तमसो मा ज्योतिर्गमय"

प्रभो !

मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल !

# प्रकाश की ओर

साधक का जीवन प्रकाश के लिए छटपटाता है। वह साधक छोटा हो या बड़ा हो, गृहस्थ हो या साधु हो, पुरुष हो या नारी हो, ये सब बातें छोड़ दीजिए। अगर वह साधक है वास्तव में, तो वह अपने-आप में एक महाप्रकाश पाने के लिए छटपटाना शुरू कर देता है और जब तक कि प्रकाश की छट-पटाहट मन में पैदा नहीं होगी, जब तक अन्धकार में उस प्रकाश के लिए तिलमिलाहट पैदा नहीं होगी, जबतक कि मन इधर-उधर से सिमट कर उस प्रकाश के लक्ष्य की ओर उन्मुख नहीं होगा, तब तक वह साधक ही कैसा? वह जिन्दा साधक नहीं होगा, वह मुर्दा साधक होगा।

उस समाज का दुर्भाग्य होता है, जब साधक तो बहुत ऊपर हो जाता है, लेकिन होता है वह प्राणहीन! इस प्रकार से किसी भी समाज में और किसी भी राष्ट्र में कुछ व्यक्ति जीवन की यात्रा के लिए आ तो जाते हैं, लेकिन उनके पैर मुर्दों की तरह से पड़ते हैं, लड़खड़ाते हुए पड़ते हैं, दृढ़ता की शक्ति जिनमें कतई नहीं है। जीवन के लक्ष्य की ओर पैर आगे पड़ते तो हैं, पर

ऐसा लगता है कि मानो उन पैरो को धकेल-धकेल कर आगे फेका जा रहा है, और अपने-आप उनमे गति नही है, प्राण नही हैं। और इस प्रकार मुझे कहना है कि जिन्दा आदमी चलता है और मुर्दा घिसटता है। जीवित मे और मुर्दे मे अन्तर यह है कि जीवित आदमी और वह प्राणशील आदमी जीवन के क्षेत्र मे जो रास्ता तय करता है, तो वह चलता है, अपने पैरो का, अपनी शक्ति का उपयोग स्वय करता है, लेकिन मुर्दा चलता नही कभी। वह तो घसीटा जाता है और कोई दूसरा उसको घसीट कर चाहे कही ले जावे, पर वह अपने-आप मे चलने की क्षमता नही रखता। इसलिए जीवित आदमी लड़ता है और मुर्दा सड़ता है।

जीवित आदमी अपने जीवन के हर क्षेत्र मे सघर्ष करता है और अपने कर्तव्य के मोर्चे पर लड़ता है, और उस जीवन की लडाई के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। लेकिन, मुर्दा लडता नही, सडता है और सडते-सडते अपने-आप मे समाप्त हो जाता है और अपने आस-पास मे भी सडाध पैदा करता है। इस प्रकार अपने-आप मे वह स्वयं भी समाप्त होता है और अपने पडोसियो को भी समाप्त कर देता है।

मैं कहता था आपसे कि साधना का क्षेत्र चाहे धार्मिक हो, वह साधना चाहे समाज के क्षेत्र मे सामाजिक साधना हो और चाहे राष्ट्र के क्षेत्र मे अपनी राष्ट्रीय मनोवृत्तियो की साधना हो, कोई भी साधना हो, वह साधक चाहता है कि प्रकाश से जीवन जगमगाए और उसके अन्दर प्राण पैदा हो, वह अपने-आप मे जीवन के लक्ष्य को साफ-साफ रूप मे आके। कहाँ जाना

है, किस तरह से जीना है, यह प्रकाश उसके जीवन में आना ही चाहिए और यदि वह प्रकाश नहीं आ रहा है, तो हमें समझना है कि किस स्थिति में यह जीवन पहुँच रहा है ?

अभी आपके सामने भिक्षु-जीवन की बात चल रही थी और आहार के प्रश्न के बारे में आप सुन रहे थे। आहार का यह प्रश्न तो जीवन के साथ लगा हुआ है। किन्तु, एक ही तरह का आहार नहीं होता है। हमारे इस शरीर को भी आहार चाहिए, हमारे मन को भी आहार चाहिए और हमारी बुद्धि को भी आहार चाहिए। शरीर को तो आहार मिल रहा है, लेकिन इस शरीर के द्वारा मिला हुआ जो आहार है, उसमें से मन को आहार नहीं मिल रहा है, हमारी बुद्धि को आहार नहीं मिल रहा है, हमारी चिन्तन-शक्ति को आहार नहीं मिल रहा है। हमें हमारे जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कोई खुराक नहीं मिल रही है, तो मैं समझता हूँ कि वह सूखा हुआ जीवन और वह भूखा जीवन लेकर हम अपने जीवन की महान् यात्रा तय नहीं कर सकते हैं। इसलिए साधक के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए कि वह प्रकाश प्राप्त करे, वह सबके लिए खुराक प्राप्त करे।

इसलिए भारतवर्ष के उन हजारों वर्षों पहले होने वाले साधकों ने जब कि अपने प्रभु के सामने खड़े होकर अपने अन्दर की भावनाएँ व्यक्त कीं और अपने हृदय को प्रभु के चरणों में उँडेला, तो खड़े होकर यही कहा कि "प्रभो, हमें धन नहीं चाहिए, वैभव हमें नहीं चाहिए, संसार की सम्पत्ति हमें नहीं चाहिए, संसार का ऐश्वर्य भी हमें नहीं चाहिए। जो कुछ भी ऐश्वर्य, धन-वैभव और सम्पत्ति

इस दुनिया मे दिखाई दे रही है, सोने के सिंहासन या सोने के महल व साम्राज्य का वैभव, वह कुछ भी हमे नही चाहिए। यह जो जीवन मे धन-वैभव है, इसके ऊपर अधिकार करना तो हमारा अधिकार है। अगर जरूरत होगी, तो अधिकार करेगे और नही जरूरत हुई, तो ठोकर भी मार देगे। यह तो जीवन का खेल है और अनन्त-अनन्त वार जीवन का यह खेल खेला गया है। लेकिन हमे क्या चाहिए—

"तमसो मा ज्योतिर्गमय"

प्रभो, तू हमे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल। हमे यही चाहिए।

मैं कहता था आपसे कि प्रकाश इस जीवन मे इतना महत्त्वपूर्ण है और जीवन के लिए वह एक ऐसी चीज है कि जब तक ठीक रूप में वह प्रकाश हमारे जीवन मे नही आएगा, हमारा जीवन उस प्रकाश से ठीक तरह से नही जगमगाएगा, तब तक कुछ होना-जाना नही है जीवन मे।

शास्त्रो का ज्ञान कितना ही क्यो न हो, पर उसके नीचे भी अन्धकार चलता रहता है और इस प्रकार से वेष-भूषा चाहे वह कैसी ही क्यो न हो, किसी भी परम्परा की हो और हजार-हजार और लाख-लाख वर्षों से उस वेष-भूषा ने त्याग और तपस्या के बल पर कितनी ही ख्याति क्यो न प्राप्त कर ली हो, लेकिन उस साधक के लिए और वह साधक फिर कोई भी हो, गृहस्थ हो, या साधु हो, स्त्री हो या पुरुष हो, कोई भी हो, उस वेष-भूषा के नीचे भी अन्धकार चलता रहता है। बडे-बडे गुरुओ की छाया मे भी वह अन्धकार चलता रहता है।

इस प्रकार जीवन के हर कोने मे अन्धकार छाया रहता है। जब तक वह अन्धकार टूटे नही, जब तक वह अँधेरा छिन्न-भिन्न न हो और प्रकाश की किरणे हमारे जीवन मे जगमगाएँ नही, तब तक जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

रात्रि के गहरे अन्धकार मे, जब सूर्य दूर रहता है और अन्धकार छाया रहता है अमावस्या की काली निशा मे, उस घर में, जिस घर मे इन्सान बैठा है, मालिक बन कर बैठा है और घर का कोना-कोना उसकी जानकारी मे रहता है। लेकिन उस अन्धकार मे अगर घर मे कोई चोर आ जाय या गैर आदमी आ जाय और वह इधर-उधर की चीजे उठाने लगे और उसकी जरा-सी खडखडाहट हो जाए, उस आदमी की निद्रा जाग जाए, तो वह चोर का मुकाबला करने को खडा होता है और आवाज लगाता है कि "चोर आ गया, चोर घर मे घुस गया।" आवाज सुन कर परिवार के लोग पुत्र, पुत्री, भाई, बहन, पत्नी सभी आ जाते हैं। यह देखकर चोर दुबक कर कोने मे जाकर खडा हो जाता है और घर वाले ही एक-दूसरे को उस अन्धकार मे चोर समझ कर एक-दूसरे पर लाठियाँ बरसाने लगते है। इस प्रकार कौन अपना है और कौन बेगाना है—इसका पता नही लगता है गहरे अन्धकार मे।

तो, यह बाहर का जो अन्धकार है, यह भी जब इतना बडा खतरनाक है कि अपने और पराये का भेद उसमें समाप्त हो जाता है। किस से हमे संघर्ष करना है और किस से हमे प्यार करना है, इसका भान नही रहता है और शत्रुओ पर पडने

वाली लाठियाँ मित्रो पर पड़नी शुरू हो जाती हैं। यह बात जब बाहर के अन्धकार में है, तो अगर यह मन का गहरा अन्धकार, जो कि अनन्त काल से मन मे चला आ रहा है, उस बाहर के अन्धकार से हजार-हजार गुणा भयकर है। उस मन में अगर प्रकाश की किरणे पहुँची नही, तो फिर मन की गहरी गुफाओं और गहरे अन्धकार से छायी गुफाओ मे साधक के मन की बहुत बुरी हालत हो जाती है।

साधक की इस बुरी हालत का नतीजा क्या होता है, इसे हम जीवन मे कदम-कदम पर देख सकते हैं। बड़े-बड़े सम्प्रदाय आज भटके हुए चल रहे हैं, बड़े-बड़े समाज आज अन्धकार मे भटके हुए चल रहे हैं। बडी-बड़ी गद्दियाँ आज अन्धकार मे इधर-उधर बिखर रही हैं। प्रकाश, वह जीवन का प्रकाश नही मिल रहा है उन्हे। परिवार उस प्रकाश के बिना आज छिन्न-भिन्न होते जा रहे हैं, समाज और राष्ट्र आज उस प्रकाश के बिना बुरी स्थिति मे हैं। हर व्यक्ति उस प्रकाश के बिना छटपटा रहा है। पर, वह जीवन का प्रकाश हमे मिल नही रहा है।

यह ठीक है कि एक दिन उन धर्मों, सम्प्रदायो और गद्दियो आदि के गुरुओ ने प्रकाश दिया था। यह भी ठीक है कि एक दिन ज्ञान की मशाल जलाई गई थी उनके द्वारा। एक दिन यह था कि भारतवर्ष के कोने-कोने मे इधर-उधर-जिधर से भी वे निकल गये, उधर ही एक प्रकाश जगमगाता हुआ निकल गया। मुझे यह जरूर कहना है कि उस समय हमें प्रकाश मिला था। उन धर्म-गुरुओ ने, उन धर्म के विचारको ने, प्रवर्तको ने, या

जगदुद्धारकों ने, धर्म-संस्थापकों ने प्रकाश की मशाल जलाई थी। लेकिन, ऐसा हुआ कि आगे चल कर वह प्रकाश की मशाल बुझ गई। इसके लिए भारतवर्ष के और जगत् के बहुत से सन्तों ने एक रूपक रक्खा है हमारे सामने।

पुराने समय में यात्रा के समय और बरात की यात्रा के समय भी निकलते थे या आज भी कहीं-कहीं निकलते हैं, तो आगे-आगे मशाल लेकर चलते हैं और पीछे-पीछे वे सैंकड़ों यात्री हों या बराती हों, चलते रहते हैं। होता क्या है ? वह मशाल जो जलती हुई ले जा रहे हैं, तो ज्यों-ज्यों वह बुझने को आती है, त्यों-त्यों उसमें ऊपर से तेल डालते रहते हैं और फिर वह मशाल वैसे ही जगमगाती जाती है। तेल समाप्त होने को होता है, तो फिर तेल डालते हैं और फिर प्रकाश जगमगाता रहता है। इस प्रकार वह बरात की यात्रा चलती रहती है उस प्रकाश के पीछे-पीछे।

लेकिन, जब तेल समाप्त हो जाता है और नया तेल डाला नहीं जाता है और जो कुछ भी पुराना तेल था, वह जल-जलाकर समाप्त हो जाता है, तो हाथ में केवल मशाल का डंडा रह जाता है, प्रकाश बुझ जाता है, अन्धकार हो जाता है। वह प्रकाश और वह मशाल रहती नहीं है। लेकिन, दुर्भाग्य से वह मशाल जलाने वाला अब भी इतना अज्ञान में है कि उसको मशाल ही समझे हुए है। पीछे आने वाले यात्री ठोकर खा रहे हैं, अन्धकार में भटक रहे हैं, खुद वह मशाल लेकर चलने वाला भी ठोकरें खाता है, पर उसका हाथ ऊपर-का-ऊपर है और वह कह रहा है कि मशाल जल रही है, चले आओ।

जिस प्रकार उस मशाल को लेकर चलने वाले की स्थिति नाजुक है और जिस प्रकार सैकडों यात्रियों के जीवन को सकट मे डालने के लिए वह आदमी गलत सावित हो रहा है, मशाल के बुझ जाने पर भी उस मशाल के डडे को लेकर ही मशाल का ढोग रच रहा है, यह स्थिति कितनी विचित्र है और कितनी दयनीय है! इसी प्रकार कभी किसी गुरु ने, कभी किसी विचारक ने और ससार के महान् दार्शनिको ने, आत्म-ज्योति के दर्शन करने वालों ने दिव्य विचारो की मशाल जलाई और सब भटके हुए यात्रियो को उन्होंने कहा उस विचारो की मशाल के प्रकाश मे कि "आ जाओ हमारे पीछे-पीछे। चूँकि हम मशाल के प्रकाश में रास्ता देखकर चल रहे हैं। ठीक रास्ता नाप रहे हैं। प्रकाश में हमारे भी कदम पड रहे हैं, तुम्हारा भी पड़ेगा। प्रकाश दूर तक है। हम भी अपना रास्ता देख रहे हैं और यह प्रकाश तुम्हें भी रास्ता दिखाएगा ठीक-ठीक ढग से। पीछे-पीछे चले आओ।"

ज्ञान की वह मशाल जलती रही और विचारों का चिन्तन और मनन का तेल वे विचारक उस ज्ञान की मशाल पर डालते रहे। उन विचारको की जीवन-ज्योति की धारा जब समाप्त होने को आई, तो अपने जलते हुए जाज्वल्यमान विचारों की वह मशाल उन्होंने अपने शिष्यों को दे दी। शिष्य आगे बढे उस मशाल को लेकर। वे भी अपने चिन्तन और मनन का तेल उसमे डालते रहे। फिर शिष्य आगे बढते रहे। जब अपने जीवन को समाप्त होने को देखा, तो वह मशाल उन्होंने फिर अपने शिष्यों के हाथों मे दे दी। उन शिष्यों ने भी अपने नये चिन्तन और मनन का तेल उस ज्योति-रूपी मशाल

से डाला और उसे कायम रक्खा। उन्होंने अपने जीवन के अन्त में अपने शिष्यों को वह मशाल दी और इस प्रकार वह जाज्वल्यमान विचारों की मशाल निरन्तर एक शिष्य से दूसरे शिष्य तक होती हुई और प्रगति करती हुई चली आती रही।

लेकिन, हुआ क्या आगे चल कर? आगे के शिष्यों ने नया चिन्तन और मनन बन्द कर दिया। आगे आने वाली पीढ़ियों ने नया चिन्तन और नया मन्थन अपने-आप में समाप्त कर दिया। इसलिए वह जो एक दर्शन की, उस फिलासफी की या एक विचारों की मशाल जलती चली आ रही थी, उसके अन्दर नया तेल डाला जाना बन्द हो गया, नया तेल डाला नहीं गया। नया चिन्तन और नया मनन उसके अंदर पैदा नहीं किया गया। मस्तिष्क ने और नये-नये साधकों के मस्तिष्क ने ठीक तरह से कठिनाइयों से संघर्ष करके नयी ज्योति, नयी आध्यात्मिक शक्ति पैदा नहीं की और इस हालत में वह मशाल बुझने लगी। और एक दिन ऐसा आया कि वह विचारों की पुरानी पूंजी समाप्त हो गई। वे विचार घिसते चले आये। नये विचार पैदा नहीं हुए और इस तरह वे घिसे-घिसाये विचार समाप्त हो गये, तो मशाल भी बुझ गई, केवल डंडे हाथ में रह गए।

पर, दुर्भाग्य है कि बुझे हुए विचारों का, मशाल का वह डंडा अब भी लोग लिये हुए चले चल रहे हैं और दुनिया को आवाज लगा रहे हैं भूले-भटके यात्रियों को कह रहे हैं, "चले आओ चले आओ!" लेकिन खुद भी ठोकर खाते हैं और आने वाले यात्री भी ठोकर खाते हैं, गड़बड़ाते हैं। कुछ पता नहीं लग

रहा है, कुछ मालूम नही हो रहा है। जीवन के उलझे हुए प्रश्न और अधिक गहरे अन्धकार मे चले जा रहे हैं। उनको सुलझा नही पा रहे है। जीवन की समस्याओ पर विचार करना चाहते हैं, तो कर नही पा रहे हैं। आप तो मोक्ष की समस्या हल करने जा रहे है, पर इधर छोटे से परिवार की समस्या भी हल नही हो पा रही है, उसमे शान्ति का राज्य कायम नही हो रहा है।

अब प्रश्न होता है कि वह अखण्ड शान्ति का स्रोत कहाँ मिलेगा? एक छोटा-सा परिवार, एक छोटा-सा समाज जिस मे रह रहे हैं, उसमे भी दूपित वातावरण फैला हुआ है। कभी इधर ठोकर खाते है, कभी उधर ठोकर खाते हैं और परिवार के आदमी, समाज के आदमी, अन्धकार मे भटकते है, ठोकरे खाते हैं, पर उन्हें प्रकाश नही मिल रहा है। इस प्रकार उनका जीवन दूपित रूप मे चल रहा है और वह आवाज लगा रहे है कि "आप हमे लिए तो जा रहे हैं, पर कुछ मालूम नही हो रहा है, रोशनी जगमगाती नही है। दस वरस हो गये, बीस वरस हो गये आपके पीछे चलते-चलते, चालीस वर्ष और पचास वरस गुजर गए और अव तो जीवन की सन्ध्या आ रही है, मरने की तैयारियाँ हो रही है, आखिर कहाँ और कव प्रकाश मिलेगा वह?"

उत्तर मिलता है, चले आओ, मरने के वाद मिलेगा। वस, फैसला कर दिया गया! जव तक जिन्दा रहोगे, तव तक तो प्रकाश मिलेगा नही। जव तक जीवन चल रहा है, तव तक तो कुछ नही मिलेगा। लम्बा ठेका दे दिया गया। क्योंकि मरने वाला

मरने के बाद गुरुजी को तो पकडने से रहा ? क्या पता लगेगा ? चलो, फैसला कर दिया गया कि मरने के बाद प्रकाश मिलेगा। इस प्रकार वह बुझी हुई मशाल लिए आज भी दुनिया को गलत रास्ते पर ले जा रहे है वे।

मैं एक बात कह रहा था कि साधक को जीवन मे प्रकाश तो चाहिए। लेकिन, उसके लिए मुझे स्पष्ट बात यह कहनी है कि वह गुरु के पास से प्रकाश तो मिले, मशाल के के नीचे भी प्रकाश मिल सकता है। किसी भी पन्थ या परम्परा मे, सम्भव है कभी-कभी ज्योति के दर्शन हो जावे, लेकिन वास्तव मे उस मशाल को जलाये रखने के लिए और उसमे प्रकाश की किरणो को जगमगाये रखने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। हम गहरा चिन्तन-मनन करे और ठीक-ठीक ढग का प्रकाश जलाये रखने के लिए यह चिन्तन और मनन भी आवश्यक है। शिष्यो को, आने वाली पीढी को चिन्तन और मनन करना चाहिए।

लेकिन, आज धर्म के साधको ने और धर्म के विचारको तथा गुरुओ ने अपने मस्तिष्क का दरवाजा चिन्तन और मनन करने के लिए सर्वथा बन्द कर लिया है। अगर आप मे अन्धकार भर गया है, और उस अन्धकार के अन्दर बैठ कर ही आप ने समझ लिया है कि हम तो सुरक्षित हो गये है, तो यह वास्तविकता से मुह मोडना है। आप सुरक्षित नही हैं अन्धकार मे बैठकर। इस प्रकार की सुरक्षितता जीवन में काम नही आती है। वहाँ तो नित नया प्रकाश चाहिए, हर कदम पर नयी रोशनी नया चिन्तन और नया मनन चाहिए।

समय करवट बदलता रहता है। हमेशा परिस्थितियाँ एक-सी नही रहती। नये-नये दृष्टिकोण सामने आते रहते है। दो हजार वर्ष पहले जीवन की जो समस्याएँ थी, जीवन की जो उलझने थीं, वे भिन्न थी। आज वे भी बदल गई हैं। सम्भव है कुछ बाकी हों, वैसी ही हो, पर उनके साथ और भी नयी-नयी समस्याएँ आ खड़ी हुई है काल-चक्र के साथ-साथ!

आखिर, दो हजार वर्षों तक हम उन्ही कदमो पर नही चलते रहे हैं। वे कदम तो आगे बढे है और जब आगे बढे हैं, तो नये जगत् मे से रास्ता तय किया है, नये सकट आये है, नयी कठिनाइयाँ आ रही हैं, जीवन के नये प्रतिबन्ध और नयी रुकावटें सामने आ रही हैं। अगर उनको ठीक तरह से समझने की और उनको हल करने की प्रबल प्रेरणा जीवन मे नही आई, तो जीवन अंधेरे में है। जीवन में नयी शक्ति और नया चिन्तन, नया मनन और नया प्रकाश प्राप्त करने की शक्ति अगर साधक, समाज को देता है, तो वह भी अपने जीवन मे प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं और समाज को भी वह प्रकाश दे सकते हैं। नही तो साधक, न अपने जीवन में प्रकाश प्राप्त कर सकता है और न वह समाज के लिए कुछ काम कर सकता है।

इस प्रकार जीवन का अभ्यास हमे करना है। बाहर मे तो शरीर को नित नयी खूराक अर्पण कर रहे हैं। दस वर्ष पहले जो रोटी खा ली, वह आज तो आप नही खाते हैं। उसे तो नित नयी खूराक ही दे रहे हैं आप और हमेशा इस शरीर की खूराक नित नयी ही चली आ रही है। लेकिन, आपका मन भूखा पड़ा है। उस विचारे को कोई नयी खूराक नहीं मिल रही है।

उसको एक दिन, एक सप्ताह और एक महीना तो क्या और एक वर्ष भी क्या, दस वर्ष भी क्या पीढियाँ हो गई, वह विचारा भूखा चला आ रहा है। कम-से-कम उसको भी भोजन तो मिलना ही चाहिए।

आपकी बुद्धि को हजार वर्ष पहले, जो-कुछ भी खुराक मिली थी, वह मिली थी। अब आपकी इतनी पीढियाँ चली आई और आप इस बुद्धि को भी कोई नई खुराक नही दे रहे हैं, तो विचारी बुद्धि कितने दिनों से भूखी पडी है? खुराक के अभाव मे वह भी विचारी नास्तिक होती चली जा रही है। कुछ काम नही करने से जग लग गया है उसे। प्रकाश नहीं आ रहा है उसमे। नया चिन्तन और मनन नही आ रहा है उसके अन्दर। उस बुद्धि को भी कुछ-न-कुछ तो अर्पण करना होगा। कुछ-न-कुछ तो विचार देने ही होंगे। अगर उसको विचार और चिन्तन नही मिल रहा है तो मैं समझता हूँ कि उसका मन भूखा है, शरीर उसका चाहे कितना ही बलवान हो। जब मन भूखा रहता है, बुद्धि भूखी पडी रहती है, तो जीवन मे कोई नया प्रकाश नही आता।

गौतम भगवान महावीर से एक प्रश्न पूछते हैं। कहते है—"भगवन, एक शरीर बलवान है, हट्टा-कट्टा है और दूसरा शरीर भी उसी प्रकार का हट्टा-कट्टा और मजबूत है। लेकिन, जब दोनो लडते है, तो एक की हार होती है और एक जीत जाता है। इसमे क्या कारण है? और इसका मूल क्या है?"

गौतम है प्रश्न करने वाले और भगवती-सूत्र के शतकों मे इस प्रश्न की चर्चा है।

गौतम कह रहे हैं कि "बाहर मे तो एक ही जैसी चीज है। एक बलवान् है और दूसरा भी बलवान है। और कभी-कभी इससे उल्टा भी होता है कि शारीरिक दृष्टि से एक कमजोर है और दूसरा बलवान् है, पर जब गुन्थमगुन्था होते हैं, तो जो बलवान् और ऊपर से दिखने मे मोटा-ताजा है, वह तो बिचारा चित्त हो जाता है और जो कि जरा बाहर मे दुर्बल मालूम होता है, वह विजय प्राप्त कर लेता है। समान साधन होते हुए भी विजय एक की ही होती है, या कि साधन एक के पास कम होते हुए भी जो निर्बल है, उसकी विजय हो जाती है। भगवन् इसका क्या कारण है ?"

भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम, तुम शरीर को देखते हो और उस हड्डियो और मास के पिंड को देख रहे हो और दूसरा जो आदमी है, उसकी उस दुर्बलता का अर्थ तुम ने उस की मास-पेशियाँ या जो-कुछ भी हड्डियाँ आदि है, उनमे लगा लिया है। उसी को देख रहे हो तुम ! लेकिन, जिसके अन्दर वीर्य-शक्ति है, जिसके अन्दर उत्साह-शक्ति है, मनोबल है, प्राण-शक्ति अधिक है, वही विजय प्राप्त करता है और दूसरा बली जरूर है, शारीरिक दृष्टि मे वह कितना ही बलवान क्यो न हो, पर अगर अन्दर मे उसकी प्राण-शक्ति दुर्बल है, जीवनी शक्ति ठीक नही है उसकी ; उसके अन्दर उत्साह का बल नही है और मनोबल अगर उसका ठीक नहा है, तो वह विजय प्राप्त नही कर सकता है।"

तो, मैं एक बात इस दृष्टिकोण मे कह रहा था कि आज मनुष्य के पास शरीर का बल चाहे कितना ही हो, अगर उसके

पास मन का बल नहीं है, बुद्धि का बल नहीं है, विचारों का बल नहीं है, अन्दर में प्राण-शक्ति नहीं है, प्रकाश अन्दर में नहीं है, तो बाहर कितना ही बलवान् हो, वह जीवन के क्षेत्र में अच्छी तरह कामयाब नहीं हो सकता।

इसी प्रकार एक गुरु के पास शिष्यों का कितना ही बल हो, कितने ही शिष्य इकट्ठे कर रक्खे हों, इधर-उधर से ला रक्खे हों। परम्परा कितनी ही बडी अपने पीछे रख रक्खी हो कितने ही बडे पोथे इकट्ठे कर लिये हों, पर इतना बड़ा शरीर बनाकर भी अगर उस गुरु में और उस परम्परा में जीवन के लिए आवश्यक प्राण नहीं हैं, जीवन-ज्योति नहीं जल रही है उसके अन्दर उसने ठीक ढंग से गहरा उतर कर बुद्धि को नहीं छुआ है, विचारों के महान क्षितिज को नहीं छुआ है स्वतन्त्र रूप से, ठीक तरह से अपने जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए अन्दर प्राण-शक्ति नहीं आई है, कुछ ठीक रुचि जागृत नहीं हुई है, तो इस सब का कोई तात्पर्य नहीं है कोई मूल्य नहीं है जीवन में।

जब समस्या आए सामने, तो शिष्य उस के लिए पीछे को देखे कि क्या हो रहा है? ठीक है वे एक बरस देख सकते हैं, दस बरस देख सकते हैं, बीस बरस देख सकते हैं, लेकिन जीवन की अन्तिम सीटी तक भी अगर वे चिन्तन और मनन की सम्पत्ति जमा नहीं कर पाए, तो वे जीवित शिष्य नहीं है, मुर्दों का ढेर पीछे चल रहा है।

इसी प्रकार किसी गृहस्थ के एक पुत्र होता है, तो तालियाँ बजती है मिठाइयाँ बटती हैं। दूसरा होता है, तब भी यही

करते है और तीसरा होता है, तब भी ऐसा ही करते हैं। करते चले जाते हैं और वह मास के पिंड घर मे इकट्ठे होते चले जा रहे है। लेकिन, उन्हें अगर ठीक तरह से शिक्षण नही मिले, सही और उन्नत विचार न मिले, ठीक ढग मे अपने जीवन को चलाने की कला न मिले, तो जब जीवन की समस्याओं को हल करने का प्रश्न उनके सामने आता है, तो वे हिचक जाते हैं, कुंठित हो जाते हैं और तब वे पुरानी पीढी की ओर देखते है। वे अपने-आप मे निर्णय करने की कोई क्षमता नहो रखते हैं, तो वह पुरानी पीढ़ी उनको कब तक प्रकाश देगी? दो-चार बरस और दे लेगी, दस-बीस बरस और दे लेगी। पर, जब पुरानी पीढ़ी समाप्त हो जाएगी, तो वे फिर क्या करेंगे, जो कि अपने-आप मे कुछ कर नही सके है?

मैं कह रहा था कि जीवित पुत्र अगर परिवार मे एक भी है या दो भी हो, तब भी परिवार मे वे रोशनी पैदा करेंगे और उसमे नये प्राण पैदा करेंगे। वे जिस समाज मे चले जाएँगे, वहाँ भी वे विराट और विशाल प्राण-शक्ति का सचार कर देंगे। जिधर भी पहुचेंगे, उधर ही जो चीज सड गयी है, तोडने लायक बन गयी है, कोई परम्परा तोडने लायक हो गयी है, तो उसे तोड देंगे। कोई चीज बनाने लायक होगी, तो क्षण-भर मे बना कर खड़ी कर देंगे। जो ध्वस करना भी जानते होंगे और सर्जन करना भी जानते होंगे।

सम्भव है पुरानी दीवार, जो सड-गल गई है; पुरानी जो सडी-गली परम्परा है, उसे तोडने लगे, तो लोग शोर-गुल

मचावे, उनका तिरस्कार करे, पर हित-बुद्धि से प्रेरित होकर और जिस स्फूर्ति से उन्होंने यह ध्वंस-कार्य किया है, वे उससे पीछे कदम नहीं हटाएँगे और ठीक ढंग से पुरानी दीवार को, जिसकी एक ईंट, कभी इधर निकल जाती है, तो उसे ठीक करते हैं। फिर कोई ईंट, इधर-उधर से खिसक जाती है, तो उसको ठीक करते हैं। इधर-उधर से फिर कोई और खराबी हो जाती है, तो उसे किसी दूसरी चीज की जरूरत है। सुधार की नहीं, उद्धार की आवश्यकता है।

सुधार और उद्धार में कुछ अन्तर है दरअसल। कुछ लोग तो सुधार के पक्षपाती हैं और कुछ उद्धार, नव निर्माण का विचार करते हैं। सुधार की आवश्यकता तो है। सुधार जो है, वह आवश्यक है जीवन में और हर जगह उसको हम खदेड कर बाहर निकाल दें ऐसी चीज तो नहीं है। पर, सुधार की भी कुछ सीमाएँ होती हैं कभी-कभी!

एक कपडा है, उसका एक कोना इधर-उधर से फट जाता है तो उसे सी लेते हैं आप। इस तरह उसका सुधार कर लिया आप ने। दूसरी तरफ से दो-चार धागे अगर खिसक गये हैं, तो आप सुधार लेंगे उन्हें भी। सम्भव है, बीच में एक बहुत बडा लम्बा-चौडा छेद हो गया है, तो नया कपडा उसकी जगह लगाकर, थेगली लगाकर उसे आप सुधार लेंगे। पर, अगर इसी तरह से उसे सीते और सुधारते चले जावें, तो वह कपडा आपका कपडा रहेगा कि गलियों में और फुटपाथ पर सोने वाले जो फकीर है, उनकी गुदडी रहेगी?

मै समझता हूँ कि वह गुदड़ी जरूर बन जावेगी और वह थेगलियाँ चारो तरफ से लगते-लगते इस रूप मे उसे विकृत कर देगी कि उसका मूल स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा। आखिरकार, एक दिन, अगर बुद्धि आपकी ठिकाने है और आपको भिखारी नही बनना है, तो उस चादर को तिलाजलि देकर नयी चादर आपको खरीदनी ही पड़ेगी।

इस प्रकार, इस जीवन की आवश्यकता के लिए जहाँ तक सुधारो का सम्बन्ध है, सुधार किए जाएँ और जब जरूरत पडे, तो उद्धार कर दिया जाय !

पुराना मकान है, लडखडा गया है और उसकी कुछ टूट-फूट हो गयी है। उसे सील लग गई है, कभी कोई ईंट खिसकी, तो उसकी जगह नई ईंट रख दी। किवाड खराब हो गये, तो किवाड नये लगा दिये। कुछ समय तक तो यह सुधार जरूर चल सकता है, लेकिन, एक दिन मकान ऐसी सूरत मे पहुँच सकता है कि उसे अगर आप गिराएँगे नही और ठीक ढग से गिराकर नया मकान नही बनाएँगे, तो किसी दिन वह मकान दुर्घटना कर बैठता है और मकान मालिक को भी दबा कर बैठ जाता है। और नही तो, इधर-उधर गली मे कोई यात्री घूम रहा है या कोई आदमी निकल रहा है, उसके प्राणो पर आ बनती है और एक दिन आस-पास के पडोसी भी अगर हैं, तो उनको भी वह मकान बरबाद कर देता है। अगर आप उसे नही गिराएँगे, तो वह अपने-आप गिर कर समाप्त होगा और सम्भव है, म्युनिसिपैलिटी की निगाह मे चढ गया, तो वह जरूर गिरा देगी उसे।

ऐसी स्थिति मे नया मकान बनाना पडता है और उस नये मकान के लिए नये सिरे से नये वातावरण मे, नयी परिस्थितियो मे एक रूप-रेखा सामने खडी करनी पडती है। इस को हम कहते है उद्धार।

समाज के सम्बन्ध मे भी, परिवार के सम्बन्ध मे भी और राष्ट्र के सम्बन्ध मे भी यही बात ठीक बैठती है। इन सब के सम्बन्ध मे जो व्यवस्था का महल हमने खडा किया था और जिनको लेकर हमने नयी व्यवस्था की थी, चाहे वह साधु-समाज की हो, गृहस्थ-समाज की हो, परिवार और राष्ट्र की हो, किसी की हो। कुछ वर्षों तक, शताब्दियों तक तथा हजार-हजार बरस तक भी सुधार करते चले जाते हैं और नये-नये सुधार, रीतियाँ और व्यवस्थाएँ आदि उसमें चस्पा करते चले जाते है। लेकिन जब समय आए एक दिन, तो उसका उद्धार भी करना ही पडता है।

इस रूप मे अगर वह नयी पीढी जो आ रही है, उसको अगर इतना बल नही मिले, उसको नयी चेतना, नया चिन्तन, नया मनन, नया बुद्धि-बल इतना नही मिले कि वह अपने-आप में ठीक ढग से समय को परख सके। अपने परिवार, समाज और राष्ट्र की आवश्यकताओ को पहचान कर उनकी ओर ध्यान लगा सके कि क्या ध्वस करने लायक है और क्या सर्जन करने लायक है, तो उस परिवार, उस समाज और उस राष्ट्र का कल्याण कभी सम्भव नही है।

इतनी शक्ति तो हमारी नयी पीढी मे आनी ही चाहिए कि जो ध्वस करने लायक है, उसका सहार कर दे और वह महादेव बन जावे। और, जो नया सर्जन होने वाला है, उसको सर्जन

करने के लिए तैयार हो जावे, ब्रह्मा बनकर खड़ा हो जावे और जो आवश्यक है जीवन के लिए, परिवार के लिए, समाज और राष्ट्र के लिए सुरक्षित रखने लायक है, जो चाहे कितना ही पुराना हो, पर अगर उसमें प्राण हैं, आवश्यक जीवित तत्त्व उसमें है, तो उसके लिए पहरेदार बनकर दैत्यों से, राक्षसों से और इधर-उधर के नालायकों से, जो जीवित को भी मारने के लिए, मिटाने के लिए तैयार बैठे हैं, उनसे उसकी रक्षा करने के लिए विष्णु बनकर खड़ा हो जावे। यह त्रिपुटी है, देवत्रयी है जीवन की।

लोग कहते हैं कि जो परिस्थिति सामने आ गई है, उसको ज्यों-का-त्यों बनाये रक्खे। साहब, पुरानी को तोड़ने के लिए भी ताकत चाहिए और नयी पैदा करने के लिए भी शक्ति और बुद्धि चाहिए। जो कुछ मौजूद है, उसकी रक्षा करने में भी शक्ति चाहिए। ये सभी शक्तियाँ आवश्यक हैं जीवन में और इस प्रकार भगवान् महावीर ने तो यह कहा है कि प्रति क्षण और प्रति पल, हर साँस में और हर साँस के हजार, लाख और करोड़वें हिस्से में नया उत्पन्न होता रहता है, पुराना नष्ट होता रहता है और एक मूल-तत्त्व ज्यों-का-त्यों कायम रहता है। जिनको हम जैन-धर्म की भाषा में 'उत्पाद', 'व्यय' और 'ध्रौव्य' कहते हैं।

ध्रौव्य तो मौजूद रहता है, मूल-तत्त्व मौजूद रहता है और उसके ऊपर उत्पाद और व्यय अपना तमाशा खेलते रहते हैं। मरने वाला मरता रहता है, पैदा होने वाला पैदा होता रहता है और जिन्दा रहने वाला जिन्दा रहता है। कोई क्षण ऐसा नहीं, कोई पल ऐसा नहीं, जब नया पैदा न होता हो और पुराना नष्ट न होता रहता हो। पर, मूल-तत्त्व अनन्त-अनन्त

काल से एक ही धारा से चल रहा है ध्रौव्य के रूप मे। इसको हम कहते हैं देवत्रयी। जो शक्ति जीवन मे निहित है, वह ब्रह्म-शक्ति है। जो व्यय है, उसे हम कहते है शिव-शक्ति। और ध्रौव्य है विष्णु-शक्ति। जो ब्रह्मा है, वह सर्जन का प्रतिनिधि है विष्णु रक्षण का प्रतिनिधि है और जो नष्ट होता है, उसका प्रतिनिधि शिव है।

इस रूप मे वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की देवत्रयी, जो कि स्याद्वाद की भाषा है, अर्हन्तो की भाषा है, वह इस रूप मे हमारे सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा रख रही है।

यह तो हमारा सैद्धान्तिक रूप है। लेकिन, हरेक परिवार मे भी कुछ पुराने को तोडना पडता है, कुछ नये को जन्म देना पडता है और वह हमारी सस्कृति के रूप मे जो अविकल धारा वह रही है, उस सस्कृति के रूप को ज्यो-का-त्यो बनाये रखना पडता है। हरेक समाज मे कुछ पुरानी व्यवस्थाओ का रूप छोडना पडता है, कुछ नयी व्यवस्थाओ को जन्म देना पडता है, और कुछ को, जो कि हमारी सस्कृति का मूल रूप है, उनको बरकरार रखना पडता है।

इसी प्रकार मे राष्ट्र के सम्बन्ध मे भी बात है। धर्म के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है और परिवार और परम्पराओ के लिए भी यही नियम लागू है।

लेकिन जो इन बुरी परम्पराओ को, चाहे वे सामाजिक हो, राष्ट्रीय हो, कैसी भी हो, ध्वस करने से घबराते हैं, वे जीवन मे कुछ कर नही सकते। पुरानी, बुरी परम्पराओ को तोडने की अगर हाथो मे, विचारो मे और कार्यों मे क्षमता नही है, तो

सब-कुछ पुराने मुर्दों का ढेर इकट्ठा करते चले जाओगे, तो एक दिन पुरानी व्यवस्थाओं का मुर्दा रूप सामने आ जाएगा और उसके नीचे फिर कोई नयी व्यवस्था के लिए जन्म लेने की शक्ति क्षीण हो जायगी।

इस रूप मे, मैं कह रहा था कि समाज मे, आज की पीढी मे और इसी प्रकार आने वाली पीढ़ियों मे और जो पुरानी पीढियां चली आ रही हैं उनमे, जब तक प्रकाश जगमगाएगा नहीं, चिन्तन की नयी ज्योति वे जागृत नहीं करेंगे, चिन्तन की नयी धारा अगर ठीक रूप मे व्यक्त नहीं करेंगे, तो ये बुझी हुई मशाल, ये बुझे हुए मस्तिष्क और मन और यह बुझी हुई बुद्धिया, जो कि अन्धकार से घिर गयी है, और जो इसी रूप मे आगे बढ़ रहे हैं, तो वे जीवन का कुछ काम नहीं कर सकेंगे।

एक जलती हुई चिनगारी है। जब तक उसके अन्दर प्राण हैं, एक-एक कोना उसका लाल है, सुर्ख है, चमक रहा है, तब तक तो उसमे ज्योति है, आशा है। सभी कामों को करने का उत्तरदायित्व वह अपने ऊपर ले सकती है। लेकिन जब चिनगारी बुझ जाती है, तो वह चिनगारी नहीं, कोयला रह जाता है। अगर उस कोयले को ही हम चिनगारी समझ कर हाथ मे लेंगे, तो वह तो मुँह ही काला करेगा। क्योंकि चिन-गारी जब बुझ जाती है, तो वह कोयले का रूप ले लेती है और सिवाय कालिख लगाने के और कुछ काम नहीं रहता है उसका।

इसी प्रकार से बुझी हुई परम्पराएँ, बुझा हुआ चिन्तन, नये प्रकाश से अलग-अलग और दूर-दूर भागने वाला चिन्तन, वह भी अपने-आप मे बुझी हुई चिनगारी ही है।

वह चिनगारी न रह कर कोयले का रूप लिये हुए है, जो समाज मे और परिवार मे कालिख पोतता है। समाज मे अन्धकार फैलाने के सिवाय और कुछ उसका काम नहीं होता है।

मेरी बात आपको कडवी जरूर लगी होगी और सम्भव है, उस रूप मे, जिस रूप मे मै कह रहा हूँ, उसे सुनने की आप की तैयारियाँ न हो। पर, जो मेरा उत्तरदायित्व है और जो कि मै अपने-आप मे चिन्तन और मनन लेकर चल रहा हूँ, उसको दृष्टि मे रख कर मै अगर अपने विचार आपके सामने न रक्खूँ, ठीक रूप मे अपनी अनुभूतियाँ आपके सामने पेश न करूँ और आपकी सोई हुई बुद्धि और मन को न जगाऊँ, आपके अन्दर जो एक प्राण और चेतना की शक्ति छुपी पडी है, उसको अगर एक झटका न दूँ, उसे जागृत न करूँ, तो कहना होगा कि जो उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है, वह अपना उत्तरदायित्व मै ठीक रूप से पूरा नहीं कर रहा हूँ, ईमानदारी के साथ बात नही कर रहा हूँ।

और ईमानदारी का काम करते हुए यहाँ जयपुर मे रहूँ, चाहे जोधपुर मे रहूँ, कहीं भी रहूँ, अपने इन विचारो की ज्योति, जिसको हम ज्योति समझ रहे है, जो कि भगवान महावीर के द्वारा हमे प्राप्त हुई है जो कि भारतवर्ष के अन्य ज्ञानियों ऋषियो और मुनियो द्वारा प्राप्त हुई है, और उनके ग्रन्थो का अध्ययन करने के बाद जो भी मन को ठीक लगा है, उसे स्पष्ट रूप से कहने मे मन ने कभी हिचकिचाहट अनुभव नहीं की है। हजार हो या दो हजार हो, कभी अपने-आप मे आगा-पीछा नहीं देखा है।

जो चीज अपने मन मे हम ठीक मान रहे है, उसे अगर आपके सामने नही कह सकते, तो वह चिनगारी नही है, राख हो गयी है। बुझी हुई चिनगारी रह गयी है। इस स्पष्ट कहने के लिए भी हजारो की तरफ से तिरस्कार, घृणा और नफरत व गालियाँ मिली है। पर, हमने इस उपहार को भी प्रसन्नता के साथ स्वीकार किया है। पीठ पीछे फुसफुसाहट होती रहती है लोग आगे-पीछे कानाफूसी करते रहते है। पर, इसकी हमे परवाह नही। कोई चाहे कुछ भी क्यो न हो, कितना ही बडा क्यों न हो, कितनी ही बुद्धि और सम्पत्ति का मालिक क्यो न हो, हम अपना सही रास्ता छोडने वाले नही है।

अगर हमारा चिन्तन, मनन और विचार सत्य है, सना-तन है, चिरन्तन है, तो लोग भले ही चिल्लाएँ, इन विचारो को कोई भी ताकत दवा नही सकती। विचार, चिन्तन और मनन अगर उच्च है, उसके पीछे ज्योति और प्रकाश है, तो उसको अभी नही, तो आने वाले वर्षों मे सुना जायगा। उसकी सही कीमत लोग आकेंगे। ठीक रूप मे उसे समझा जायगा। जो इसे नया चिन्तन, प्रकाशवान चिन्तन समझ रहे हैं, वे अन्धकार मे ठोकर नही खाएँगे और अपने पैरो पर खडे होंगे। अपने नये जीवन का निर्माण करेंगे। प्रकाश के लिए नयी विचारधारा और चिन्तन के लिए छटपटाहट जिन साधको के मन मे पैदा हो जायगी, वे जीवन की मंजिल पूरी कर ले जाएँगे। क्योंकि, वे अन्धकार मे प्रकाश की ओर गति कर रहे हैं।

---

# आत्मानुभूति

मनुष्य मूल मे एक पवित्र वस्तु है। प्रत्येक मनुष्य अपने-आप मे तथा जीवन के महत्त्वपूर्ण भावो मे एक पवित्रता का स्रोत अपने अन्दर रख रहा है। मनुष्य केवल एक हड्डियो और मास का पिंड नहीं है। वह केवल इधर-उधर के साधारण सस्कारो से बना हुआ ही कोई प्राणी नहीं है। उसके सस्कार ऊचे हैं और वह अपने अन्दर मे मनुष्यता और मानवता की पवित्र भावनाओ को धारण करता हुआ चला आ रहा है। जितने भी धर्म और परम्पराएँ हैं, वे सब मनुष्य के अन्दर रही हुई इन्ही मानवता की भावनाओ को जगाने के लिए प्रेरणा देते है। जितने भी दर्शन हैं, वे सब इन्सान की सोई हुई इन्सानियत को उठाने के लिए और उसे जगाने के लिए ही भावनाएँ अर्पण करते है।

परन्तु, मनुष्य की स्थिति क्या है आज? विचार करने पर मालूम होगा कि वह अपने-आप मे तो पवित्र जरूर है लेकिन मनुष्य आज उस इन्सानियत की भावना से भटक रहा है। यह एक ऐसी बात है, जो कि हमारे मन को कुरेद देती है, कुचल देती है और एक ऐसा विषाद का-सा वातावरण हमारे सामने रख छोडती है कि हम कुछ सशय मे पड जाते है। और, यह बात विचारने लायक हो जाती है कि मनुष्य जब अपने-

आप मे सृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण प्राणी है, अपने-आप मे पवित्र है, तो फिर वह क्यो गिर जाता है इतना? उसका इतना पतन क्यो हो जाता है? और आपस मे मनुष्य-मनुष्य के मधुर सम्बन्ध क्यो कडवे हो जाते है? पिता-पुत्र लड पडते हैं, आपस मे सघर्ष करते हैं। पुराने जमाने मे तो तलवारो से फैसले कर लेते थे; पर आज वे अदालतो मे फैसले करते देखे जाते है।

इसी प्रकार से माता के पुत्र से, पुत्रियो से जो सम्बन्ध है, वे भी कभी-कभी इतने कडवे बन जाते है, और भाई-भाई के सम्बन्ध भी इतने कडवे बन जाते है कि परिवार मे से अगर उनकी कडवाहट कभी बाहर गलियो मे आ जाती है, उस कडवाहट की गन्ध अगर वहाँ बिखर जाती है, तो गलियो तक से गुजरने वाले नाक-भौ सिकोडने लग जाते हैं, और कहने लगते हैं कि यह क्या बात बन गयी है? भाई-भाई का, भाई-बहन का आदर्श जो कि भारतीय सस्कृति मे इतना ऊंचा खडा है और इतनी महान गाथाएँ गायी गयी हैं उसकी कि रामायण के रूप मे विशाल साहित्य और पुराणो का एक बडा साहित्य हमारे सामने खडा हो गया है।

लेकिन, हम देखते हैं कि आजकल भाई-भाई के सम्बन्ध भी कभी-कभी इतने कडवे सुने और देखे गये है कि मनुष्य विचार मे पड जाता है कि आखिर, मनुष्य इतना पवित्र और इतनी ऊची सृष्टि का स्रष्टा होकर भी इतना दूषित प्राणी और विकृत जीव क्यो बनता चला जाता है?

तो, हमे एक विचार करना है आपके सामने और वह विचार यह है कि वर्तमान मे जो मनुष्य है, वह अपने-आप मे अनन्त-अनन्त काल के संस्कारो को लेकर चला आ रहा है और उसका जीवन कभी अच्छे संस्कारो मे से और कभी बुरे संस्कारों मे से होकर गुजरा है। वह जीवन के विशाल मार्गों मे से और कभी गन्दी गलियो मे से होकर गुजरा है। इस कारण से उसके वे जो संस्कार हैं, जिनको हम स्वार्थ का नाम देते हैं वह उनसे बुरी तरह घिरा हुआ है।

और, जब मनुष्य अपने आप में अपने ही जीवन को महत्त्व देवे, अपनी ही वासनाओ को महत्त्व देवे, अपने ही स्वार्थो और खुदगर्जियो को महत्त्व देवे और इस प्रकार कभी सोचे, तो अपनी ही बात सोचे, अपने ही सम्बन्ध में सोचे। जब कभी विचार करे, तो अपने इस शरीर मे, अपनी भूख-प्यास मे, अपनी ही सरदी-गरमी मे, अपनी ही तुच्छ इच्छाओ के वातावरण मे विचार करता है, तो उसे हम स्वार्थ का रूप देते है और यह कहना चाहते है कि यह जो-कुछ भी हो रहा है, ठीक रूप से नही हो रहा है।

आकाश मे सूरज चमकता है, चाद चमकता है, पर जब कभी घटाएँ उसके नीचे आ जाती है, तो उनकी चमक कम पड जाती है और उनका स्वरूप जो चमकता हुआ है, वह उस कुहरे मे अपना प्रकाश नही फैला पाता है। इसी तरह मनुष्य की मानवता का सूर्य चमकता रहता है, लेकिन, कभी-कभी स्वार्थ की काली घटाएँ उसके नीचे आ जाती हैं और उसके प्रकाश को रोक लेती है। उस हालत मे मनुष्य इतने दूषित और गन्दे

रूप मे हमारे सामने आकर खडा हो जाता है कि हमे उसे पहचानना मुश्किल हो जाता है कि यह आदमी है या और कोई चीज है? मनुष्य का शरीर तो है, और आकृति भी मनुष्य की जरूर है, लेकिन मनुष्य के शरीर और मनुष्य की आकृति-मात्र से ही जीवन की समस्याएँ हल नही होती हैं, जब तक कि मनुष्य-जैसा मन हमे न मिले, मनुष्य-जैसी बुद्धि हमे न मिले, मनुष्य-जैसा चिन्तन, मनन और विचार अगर हमे न मिले, तो उस स्थिति मे केवल शरीर-मात्र मे मनुष्य हो जाना केवल आकृति का सुन्दर और असुन्दर रूप मे हो जाना, जीवन के लिए कोई महत्त्वपूर्ण बात नही है।

इसलिए भगवान महावीर या ससार के दूसरे विराट पुरुष, मनुष्य-जीवन की गहराई मे उतरे और वहाँ पर उस मनुष्य का उन्होने पूर्ण रूप से दर्शन किया और उस प्रकाश और रोशनी का जो कि जगमगा रही थी उसके जीवन मे, उसे इस रूप मे देखा उन्होने कि ससार मे खुदगर्जी का कुहरा छा रहा है, ससार मे स्वार्थों की काली घटाएँ छा रही है और मनुष्य के मन का प्रकाश उस कुहरे के पीछे रुका पडा है। अगर उन स्वार्थों को तोडा जा सके, मनुष्य को अपने जीवन के सम्बन्ध मे यह कला कभी सिखाई जा सके कि अपने सुख को अगर कभी जरूरत पडे, तो दूसरो के लिए ठुकरा सके, अपने दु खो को भी अगर कभी आवश्यकता पडे, तो ठुकरा सके। अपने जीवन का निर्णय करते समय न वह सुखो की कैद मे पडे और और न दु खो की कैद मे पडे। जीवन के सघर्ष मे से जब कभी वह गुजरे, तो अगर फूलो का महकता बाग मिल जावे और बडी-बडी फुलवाडियाँ मिल जावे, तब भी वह अपने कर्तव्य

की राह को छोड कर गन्दी और तग गलियो मे भटक न जावे। इसी प्रकार अगर कूडे-करकट मे से गुजरना पडे, चारो तरफ से झाड-झखाड मे से गुजरना पडे और चारो तरफ से चोटे पडने लगे, काटे चुभने लगे, छीना-झपटी होने लगे, तो वहाँ पर भी कर्तव्य की राह काटो मे उलझकर रुक न जावे। वहाँ पर भी उसके जीवन के सिद्धान्त, जीवन के उच्च आदर्श और मनुष्यता चमकते रहे, तो उसे इस जीवन के मधुर क्षणो मे ही सच्चे सुख और सच्ची शान्ति के दर्शन हो सकते है।

मैं विचार करता था कि सुखो और दुःखो पर भी हमे विजय प्राप्त करनी है। ससार मे ये जो घटनाएँ हैं दृष्टान्तो के रूप मे और प्रत्यक्ष मे भी हजारो तरह के उदाहरण हम प्रति दिन अखबारो आदि मे पढते रहते हैं। अखबार पढने वाले कोई-न कोई ऐसी खबर किसी अखबार के पृष्ठ पर पढ लेते है, परन्तु उसमे से एक ससार की तसवीर, उसकी बनावट और किस रूप मे ससार ढल रहा है ? आज इन्सानियत किस रूप मे भटक रही है ? वह उत्थान के मार्ग पर चल रही है या पतन के मार्ग पर ? इस तरह से ससार का रूप एक छोटा-सा अखबार हमारे सामने रख छोडता है। उसके अन्दर भी हमे जीवन से सम्बन्धित ससार का रूप हमारे सामने रखने वाली घटनाएँ और बहुत-सी दूसरी घटनाएँ पढने को मिल जाती है, जो कि महत्त्वपूर्ण और विचारणीय सामग्री हमारे सामने रख छोडती है।

ऐसी स्थिति के अन्दर, हमे यह एक बात विचारने की है कि यह जो कुछ भी वातावरण बनता जा रहा है, उसका मूल कारण क्या है ?

क्या मनुष्य अपने सुखो पर विजय प्राप्त नही कर सकता ? जरा-से सुख के लिए, अगर वह शरीर का सुख है, तो उसके लिए भी वह दुनिया-भर के बुरे-से-बुरे काम करने को तैयार हो जाता है और यह विचार करता है कि मुझे सुख मिले और अगर मेरे सुख की पूर्ति हो गई, तो ससार-भर मे चाहे कितना ही दुःख पड़े, चाहे कितना ही कष्ट पडे, चाहे कितनी ही आपत्तियाँ पडे और इस प्रकार दूसरे की लाशो पर, दूसरों के स्वार्थों की लाशो पर अपने उस जीवन के महल को खडा करना चाहता है। उस हालत मे वह उस सुख का, अगर वह न्याय से मिल रहा है, तो उसका हक है मनुष्य का।

ससार मे मनुष्य आया है, तो केवल दुःख की जिन्दगी गुजारने के लिए ही नही आया है। केवल, हाय-हाय करते हुए अपने जीवन के पचास-साठ या कि सत्तर वर्ष गुजार दे, इसलिए नहीं आया है। वह आया है, आनन्द का जीवन ले कर। वह जिन्दा रहना चाहता है आनन्द के मगलमय वातावरण मे वह चाहता है कि स्वय भी आनन्द मे रहे और दूसरे भी आनन्द मे रहे। उसकी मूल भावना यह है कि अपने भी आनन्द मे रहे और दूसरे भी आनन्द मे रहे।

लेकिन, एक बात जरूर है कि 'मैं' और 'मेरे' का घेरा जरा छोटा बन गया है मनुष्य का। आज के मनुष्य का जो 'मैं' है, वह इतना छोटा है कि वह खाली पिंड मे ही महदूद हो गया है। और 'मेरे' का घेरा भी इतना छोटा है कि वह परिवार के चार-पाँच आदमियों मे ही महदूद हो गया है। पहले तो परिवार के रूप मे, एक अच्छे से-अच्छा परिवार जो था, वह

भी एक अपना था। लेकिन, आज तो वह विस्तृत परिवार का घेरा टूटता जा रहा है। संयुक्त परिवार की मूल भावनाएँ आजकल लोप होती जा रही है। इस रूप में वातावरण बनता चला जा रहा है कि वह अपनी पत्नी तथा अपने बच्चों तक ही सीमित रहता है। आजकल जगत में जो कुछ भी परिवार की सीमाएँ चल रही हैं, उनका कोई मूल्य नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में यह जो कुछ भी बन रहा है और जो स्थिति हमारी आँखों के सामने चल रही है, उसका मूल कारण क्या है?

इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य का 'मैं' छोटा हो गया है और मनुष्य का 'मेरा' जो है, वह भी छोटा हो गया है। जब कभी वह 'मैं' की अनुभूति करता है, तो वह इस शरीर तक ही महदूद रह कर अनुभूति करता है। उसका 'मैं' पास-पड़ोसियों के परिवार में नहीं जा रहा है अपने समाज में नहीं जा रहा है, अपने राष्ट्र में नहीं जा रहा है और अपने आस-पास का जो एक पशु और पक्षियों का जगत् है, उस में नहीं जा रहा है। इस प्रकार वह मैं जो विराट बनना चाहिए था, विशाल बनना चाहिए था वह महदूद होकर, सीमित होकर केवल इस पिंड में केन्द्रित हो गया है। इसी कारण से उसे दुःख है, क्लेश है और ये समस्त संसार की आपत्तियाँ है। इन दुःखों और आपत्तियों से छुटकारा पाने के लिए मैं को विराट् रूप देना चाहिए।

दूसरी बात क्या है ?

मनुष्य का जो 'मेरा' है, जिसे हम ममत्व कहते हैं, वह 'ममत्व' शब्द बुरा मालूम होता है और 'ममता' शब्द अच्छा मालूम होता है। हम जैसे कहते है कि माता की ममता अपने पुत्र पर बड़ी होती है। पिता की ममता अपने पुत्र पर बहुत होती है। वहाँ 'ममता' स्नेह का वाचक रहता है, कोमलता का और स्नेह की भावनाओ का प्रतीक रहता है। लेकिन, 'ममत्व' जो है, वह खुदगर्जी का और अपने ही स्वार्थ का एक प्रतीक बनकर रह जाता है।

इस रूप मे, मै कह रहा था आप से कि हम अपने 'ममत्व' को लम्बा तो करना चाह रहे है और चाह रहे हैं कि ससार मे जो-कुछ भी है, हम उस पर शासन करे, उसे अपने अधिकार मे ले या जो आदमी हमारे परिवार के है, वे हमारी आज्ञा में चले, हमारे होकर रहे, हमारे सुख मे सुखी रहे और हमारे दुःख मे दुःखी रहे। लेकिन, हम अपने 'ममत्व' को इस रूप मे आगे नही बढा रहे है कि उनके सुख मे सुखी रहे और उनके दुःख मे दुःखी रहे।

सम्बन्ध तो है यह जरूर और सम्बन्ध तो हम समाज के कायम भी करना चाहते है, पर यह कायम कैसे करना चाहते हैं ? हमारे ही सुख मे वे सब सुखी रहे और हमारे सुख को सुख समझे और हमारे दुःख को दुःख समझे। लेकिन, सम्बन्ध हमारी तरफ से कायम करना नही चाहते कि हम उनके सुख को अपना सुख और उनके दुःख को अपना दुःख समझे।

यह जो हमारा दृष्टिकोण है, वह 'ममता' के रूप में अपना वह स्नेह और सद्भावना का रूप लेकर आगे बढ़ना चाहिए। उस हालत में उसे विश्व-भर के प्राणियों में, उसे अपने पास-पड़ोस में, अपने परिवार में और अपने समाज व राष्ट्र में भी आगे बढ़ाना चाहिए। लेकिन, वह 'अहं' और 'ममत्व' जीवन के छोटे-से घेरे में आ गया है और इसलिए हमारे शास्त्रकार ने कहा है कि—

"तुम 'अहं' का त्याग करो, 'अहंकार' का त्याग करो और 'मम' और 'मेरापन' जो है उसका भी त्याग करो।"

'अहं' को त्याग करने की जब बात आती है, तो इन्सान को बड़ा बुरा लगता है। उसे इससे बड़ा प्रेम और मुहब्बत हो गई है। वह उसे छोड़ने को तैयार नहीं होता और अपने ममत्व को भी छोड़ने को वह तैयार नहीं होता। इसलिए भारतवर्ष के एक दार्शनिक और विचारक ने इस मनुष्य की मनोवृत्ति को सामने रखकर कहा है —"बहुत ठीक बात है। हजारों वर्षों से हम कहते चले आये हैं, ऋषि और ज्ञानी महापुरुष कहते चले आये हैं कि ममता का त्याग करो। लेकिन, फिर भी तुम्हारा 'अहं' और 'मैं' तुमसे छूट नहीं रहा है तो कोई बात नहीं। अगर यह बहुत प्यारी चीज तुम्हें लगी है, अगर तुम इससे बहुत स्नेह कर रहे हो और तुम इसे छोड़ने के लिए किसी भी रूप में तैयार नहीं हो तो न सही। पर भैया! बीच में ही त्रिशंकु की तरह से मत लटको।"

त्रिशंकु की एक पौराणिक कहानी है। त्रिशंकु एक राजा था। उसने सोचा कि मुझे स्वर्ग में जाना है, पर स्वर्ग में जाने

के कर्म उसने किये नही थे। स्वर्ग मे जाने के जो कर्तव्य हैं, वे उसके जीवन मे उतरे नही थे। लेकिन, कुछ ऋषि-मुनियो की तपस्या के बल पर और अपनी कुछ भौतिक साधना के बल पर उसे स्वर्ग भेजा जाने लगा मुनि विश्वामित्र के द्वारा।

नतीजा यह हुआ कि विश्वामित्र सरीखे महर्षि जब उसे स्वर्ग भेजने लगे, तो किसकी मजाल कि वह न जाए? वह त्रिशकु पृथ्वी से स्वर्ग की तरफ ऊपर को उठ चला। ऊपर जो स्वर्ग में देवी देवता रहते थे, उन्होने उसे देखा और जब देखा, तो चक्कर मे आ गये कि "एक बडा पापी और गुनहगार हमारे स्वर्ग मे चला आ रहा है और अगर ऐसे जुल्मी, पापी और गुनहगार के कदम अगर स्वर्ग मे पड गये, तो स्वर्ग भी नरक बन जाएगा।"

उन्होने तय किया कि इसे तो स्वर्ग मे नही आने देना चाहिए। और यह सोच कर डडा लिया और डडे लेकर वे देवता लोग पिल पड़े त्रिशकु पर और मारने लगे उसे पीछे धक्का देने के लिए। त्रिशकु पर जब डडे पडने लगे और वह नीचे तरफ आने लगा, तो रोने लगा और कहने लगा विश्वामित्र से— 'महाराज! मै तो अब गिरा।"

यह देख कर विश्वामित्र को रोष आया कि मैं तो स्वर्ग को भेज रहा हूँ और वह जा नही रहा है। अब यह नीचे तो नही आ सकता। उन्होने कहा—'बस यही ठहर जाओ।' इतना कहना था कि वह नीचे आना बन्द हो गया। पर,

ऊपर भी देवताओ के डडे की मार से जा नही सकता था। तो इस तरह बीच-के-बीच मे ही वह लटक गया।

इस कहानी के पीछे सम्भव है, कोई वास्तविकता का रूप हो या न हो। यथार्थ घटना का रूप हो या न हो, लेकिन इसमे मनुष्य के जीवन का प्रतिबिम्ब जरूर है और भारतवर्ष के जितने भी कहानीकार है और जितने भी पौराणिक है वे उस कथा-सूत्र को ज्यो-का-त्यो शब्दो के अन्दर जो भी कहा है, वही देखते हैं। उस ढाचे मात्र को ही दोहराते हैं। किन्तु, इसके अन्दर से हम भाव उतार है। इसके ऊपर से जीवन का प्रतिबिम्ब उतार कर ले रहे है। हमारा काम शब्दो को पकडना नही, भावो को परखने का है।

इस सिद्धान्त के द्वारा क्या फल निकला? यह निकला कि मनुष्य अपने इस जीवन के अन्दर जब कर्म करता है, तो उस कर्म का अर्थ यह होता है कि या तो इस किनारे पर रहे या उस किनारे पर। दुर्भाग्य से पापी होना बुरी चीज है लेकिन, स्पष्ट रूप से पापी होना वह किसी दशा से कुछ ठीक हो सकता है। मनुष्य धर्मात्मा बने, यह एक बहुत अच्छी चीज है, लेकिन वह स्पष्ट रूप में साफ हृदय से धर्मात्मा बनता है, तब तो ठीक है। अगर वह बीच मे लटक जाता है और अन्दर मे पापी और ऊपर में धर्मी, अन्दर मे खोखला और ऊपर बल का ढोग लेकर खडा हो जाता है, तो यह जीवन के अन्दर एक बडा ही विकृत रूप है। मनुष्य ऊपर बडे भले आदमी का ढोग लेकर जनता के सामने आता है, तो यह जीवन की ठीक दिशा नही है।

आज जब भी कभी हम इधर-उधर जाते है, तो धर्म पर चोटे पडती हैं और एक विकृत रूप सामने आ जाता है। परम्पराओ और सम्प्रदायो की खिल्ली उडाई जाती है। इधर-उधर जब कभी आप मालूम करेगे, तो सम्भव है, कभी-कभी आपको धर्मात्मा के नाम पर कुछ गडवडी मिले और आजकल तो किसी को गालियाँ बोलना एक फैशन की चीज भी बन गई है। इसका कारण यह है कि धर्म ने तो कुछ नही किया, लेकिन धर्म के अनुयायियो ने ही धर्म को बदनाम किया है।

लोग कहते हैं "धर्म को खतरा है। अमुक नास्तिक है, वह धर्म पर हमला बोल रहा है।" इस प्रकार आज जो पन्थ है, धर्म हैं, वे सब खतरे मे चले जा रहे हैं, उनके कथन के अनुसार।

लेकिन, मै कहता हूँ कि बात ऐसी है नही। हमारे सामने हजारो लाखो वर्षों का इतिहास पडा है। वह इस बात का साक्षी है कि "किसी भी नास्तिक से धर्म को कभी खतरा नही पैदा हुआ। किसी भी धर्म को नास्तिक से नुकसान नही पहुँचा। धर्म को अगर कभी खतरा हुआ है, अगर कभी धर्म की इज्जत गयी है, अगर कभी धर्म और पन्थ का दिवाला निकला है और धर्म जो है, वह बडे बुरे रूप मे ससार के सामने विकृत रूप मे खडा रह गया है, तो वह उस धर्म के अनुयायियो के कारण ही हुआ। धर्म के उन कहे जाने वाले अनुयायियो ने ही उसे इस विकृत रूप मे, गलत रूप मे ससार के सामने पेश किया है। इसलिए अपना ही अपने को मारना है और अपनी ही दुर्बलता इन्सान को समाप्त कर देती है।

तो इस तरह किसी भी धर्म या परम्परा को अगर कभी समाप्त होने के दिन देखने पड़े हैं या आगे भी पड़ेगे, तो नास्तिक की ताकत या किसी विधर्मी तथा दूसरे दुश्मन की ताकत कभी खतम नही कर सकेगी उसे। कोई भी बाहर की शक्ति इन धर्मो को चुनौती नही दे सकेगी। अगर हम ही अपने-आप मे खाली हो चुके हैं, हम मे प्राण नही रहे है और वह जीवन-ज्योति बुझ गई है हमसे से, तो हम जरा-सी हवा के सामने भी खड़े नही रह सकेगे।

इस प्रकार आदमी धर्म का एक गलत रूप अपने ऊपर लेकर चल रहा है, नारे ज्यादा लगाता है, पर हृदय नारो से बुझ गया होता है। ऐसी स्थिति मे गलत रूप जीवन मे आ जाता है।

मैं बात कह रहा था कि त्रिशंकु की तरह जीवन को बीच मे लटकाना खराब चीज है। आचार्य कह रहे हैं — "अहं और 'ममत्व' दोनो के बीच मे जो तुम अपने-आप मे खड़े हो, तो एक काम करो। या तो 'अहं' और 'ममत्व' को तोड कर समाप्त कर दो। अगर इसे समाप्त नही कर सकते हो, तो इसको विराट रूप दे दो, इसे विशाल बना दो। अगर विशाल रूप इसको दे दोगे तो तुम्हारे जीवन का कल्याण है और 'अहं' और 'ममत्व' के क्षुद्र घेरे को समाप्त कर दोगे, तो तुम्हारे जीवन का सुनहरी प्रभात है। इस तरह वह पुरानी हमारी जो संस्कृति है, उसकी भाषा मे कहते है —

'अहन्ता-ममता-त्यागः, कर्तुं यदि न शक्यते।
अहन्ता-ममताभावः, सर्वत्रैव विधीयताम्॥

—अप्पय दीक्षित

इस तरह जिस तवे पर अलग-अलग रोटियाँ बन रही हों, वह तवा और वह घर चाहे सोने का भी क्यों न हो, पर उसके दिल का दिवाला तो निकल ही रहा है, हृदय उसका छोटा और संकीर्ण होता जा रहा है, और लक्ष्मी ऐसे छोटे दिल वाले के यहाँ कभी अपना आवास नहीं बनाती है। उसके लिए तो विशाल हृदय चाहिए।

जीवन के अन्दर अलग-अलग छोटे-छोटे जीवन की परिधि बनाकर अलग-अलग रोटियों में अलग-अलग आदमियों को नापना जीवन की कोई संगति नहीं है।

मिलना चाहिएँ और द्वैत के भाव उसके अन्दर पैदा नहीं होना चाहिएँ।

जब नौकर भी खा चुके और इसके बाद घर का जो मालिक है, एक पाई से लेकर हजार-लाख तक सब जिनके अधिकार मे है, सारा घर का महल जिसके कन्धे पर खडा है, और जीवन मे जितने भी परिवार के आदमी हैं, उन सबके भरण-पोषण का भार जिस पर है, नातेदार-रिश्तेदार आदि जो है, वे सब जिस एक व्यक्ति के सिर पर खड़े हैं, वह जब आवे घर पर, तो सबके बाद मे घर के उस मालिक को खाने का अधिकार है।

उसे खाने के पहले चाहिए कि वह वह पूछे कि सब भोजन कर चुके है या नहीं? घर मे कोई ऐसा तो नहीं रहा है कि जिसको अभी तक भोजन नहीं मिला हो? कोई बच्चा, बूढा या बीमार तो नहीं रह गया है भोजन करने से?

वह अपनी पत्नी से यह पूछे कि अब केवल तू और मैं दो प्राणी ही भोजन करने को रह गए है, और तो कोई नहीं रहा है? सबमे पहले इस प्रकार पूछे। और फिर घर का मालिक खाना खाए।

इस रूप मे मैंने आपके सामने एक विचार प्रकट किया और एक चिन्तन की बात आपके सामने रक्खी। भारतवर्ष की सस्कृति और सभ्यता की यह बात सामने रक्खी कि कि आपके सामने जो आहार है, उसके सम्बन्ध मे यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जीवन का कि जब वह सबको बाँटकर खाया

जाता है, तो वह अमृत बनता है और अगर वह बाँटकर नहीं खाया जाता, तो वह विष बन जाता है। और इसीलिए भारत का एक महापुरुष और अपने समय का सब से बड़ा कर्मयोगी कह रहा है—

> "अघं स केवलं भुङ्क्ते, यः पचत्यात्मकारणात्"
>
> —गीता

अर्थात् जो अपने लिए पकाता है, जो अपने-आप ही प्राप्त सामग्री का उपभोग करता है, उसमें दूसरे को भागीदार नहीं बनाता है, प्रेमपूर्वक हिस्सेदार नहीं बनाता है, बाँटकर नहीं खाता है, तो वह भोजन नहीं करता है, वह पाप खाता है एक तरह से। वह भोजन नहीं खा रहा है, [illegible] अन्दर में पाप उँडेल रहा है। [illegible] भरा है और इस प्रकार अपने जीवन के अन्दर वह [illegible] महत्त्वपूर्ण भावना को प्राप्त नहीं कर रहा है।

उन सबके विचार और सिद्धान्त सब जातियो, श्रेणियो के लिए थे, सब वर्गों के लिए थे, ससार के प्राणीमात्र के लिए थे। पर, कुछ लोगो ने और कुछ धर्म के ठेकेदारो ने, कुछ अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर या अपनी गलतियो और अपनी भूलो से अपने-आप मे सिमटकर इन सिद्धान्तो को अपने-आप तक सीमित रक्खा, अपने लिए रिजर्व कर लिया। उन्ही लोगो ने कहना प्रारम्भ किया कि यह हमारा आदर्श नही, साधु लोगो का आदर्श है। इस रूप मे वह जीवन के वास्तविक कर्तव्य और उद्देश्य को गलत अर्थ मे डालकर गड़बडा देते हैं।

रावण का जीवन हमारे सामने आता है और मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवन भी हमारे सामने खडा है। कर्मयोगी के रूप मे कर्म करने के लिए एक पिता की आज्ञा पर या अपनी माता के इशारो पर उस साम्राज्य को ठुकरा देते है और वन मे चले जाते हैं। वहा तो लोग कहते है कि अहा! भगवान् कैसे थे? रावण कैसा दुष्ट था। लेकिन, जब उनको कहा जाता है कि आप भी उनका अनुकरण करिए, अपने जीवन मे उनके आदर्शों को उतारिए, तो कहते हैं कि यह तो भगवान् ही कर सकते हैं, उनके ही काम है ये तो। हम तो बहुत कमजोर है। चलो, मामला तय हो गया, छुट्टी पा ली!

इसी प्रकार सीता के लिए राम ने जितने काम किये और अपनी पत्नी के गौरव की रक्षा के लिए उस समय के विशाल शक्तिशाली वर्ग से, लाखो-करोडो की सम्पत्ति वाले विशाल साम्राज्य के स्वामी रावण से, उसकी बहुत बडी शक्तिशाली सेना से और ताकत से सामना करने को तैयार हो

जाते हैं, जब कि स्वयं के पास मामूली-सी सेना भी नहीं थी। उस वक्त वे जय और पराजय का हिसाब नहीं लगाते। सफलता मिलेगी या नहीं, इसका भी हिसाब नहीं लगाते। केवल कर्तव्य की वृत्ति के नाते और अपनी पत्नी के गौरव की रक्षा के लिए जब खड़े हो जाते हैं तो मैं विचार करता हूँ, यह कितना बड़ा आदर्श था उनका! कितनी बड़ी शिक्षा दी थी उन्होंने अपने आचरण से लोगों को। कितनी बड़ी प्रेरणा और स्फूर्ति अपने जीवन के द्वारा उन्होंने सर्व-साधारण जनता को दी थी। लेकिन यहाँ भी लोगों ने कहा चूँकि वह तो भगवान थे, इसलिए ऐसा कर [illegible]। [illegible] तो उन्हीं का काम था। हमारा काम [illegible]।

जीवन के अन्दर से हटाकर उन सब को एक कोने मे ले जाकर खड़ा कर दिया।

मै बात कर रहा था आप से कि इस बारे मे भगवान् महावीर ने क्या कहा ? उन्होंने कहा—

'असविभागी न हु तस्स मुक्खो'

—दशवैकालिक, ९।२।२३

जो साधक साधना के क्षेत्र मे आया है वह 'असविभागी' अगर है, आहार प्राप्त करता है, पर वह बाटकर नही खाता है। भोजन मिलता है, तो वितरण करने की उसकी वृत्ति नही है और जो सामग्री मिली है, उसमे दूसरो को साझीदार नही बनाता है या जो कि गृहस्थी साधक है, वह अपने परिवार को अपनी सामग्री म साझीदार नही बनाता है, अपने समाज को साझीदार नही बनाता है, और न राष्ट्र के अन्दर रहे अपने साथियो को साझीदार बनाता है। जो परिवार, समाज या राष्ट्र के अन्दर एकाधिकार की सत्ता लेकर चल रहा है और स्वय उपभोक्ता बनना चाहता है और दूसरे साथियो को निमन्त्रण नही देता है। वितरण करके अगर इस प्रकार नही चल रहा है, तो उसके लिए भगवान् कहते है कि " सम्भव है और किसी की तो मोक्ष हो जाए, पर उसको तो कभी मोक्ष नही मिलेगी।"

"न हु तस्स मुक्खो"

तो, ऐसे जो विचार है और इस प्रकार का जो चिन्तन है, वह हमारे आहार के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण कर देता है कि

आहार-चर्या के विषय मे शास्त्रकारो ने भ्रमर-वृत्ति का रूपक हमारे सामने रखा है। मैं एक बात जरूर कहूँगा आप से कि यह जो भवरा है, उसे हमारे भारतवर्ष के उन विचारकों ने, उन तमाम विचारको ने; जिन्होंने ससार पर दृष्टि डाली, उसके आहार-विहार या हर तत्त्व पर विचार और चिन्तन किया और अपने उस विचार-चिन्तन और सिद्धान्त के समर्थन करने मे, जीवन का उद्देश्य ढूँढने मे उन्होंने पिछले अढाई हजार वर्षो के प्राप्त अपने साधना के इतिहास मे इस भवरे को पकड रक्खा है। उससे आगे चार-पाँच हजार की साधना के क्षेत्र मे भी यही बात देखने को हमे मिलती है। वहां भी इस भवरे को पकड रक्खा है। जैन-शास्त्रकारो ने भी इस भवरे को पकड रक्खा है, वैदिक दर्शन मे भी इस भवरे को छोडा नहीं गया है। बौद्धो ने भी इस भवरे को, इस मधुकर को याद रक्खा है

भवरे का जो मुख्य रूपक है, वह बिलकुल ठीक रहा है उनकी दृष्टि मे। वे अपने विचारो को उसी के द्वारा स्पष्ट रूप मे अकित करना चाहते है। ऐसा क्यो करना चाहते है? उसका भी कारण है। इसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण आदर्श का प्रकाश रहा हुआ है।

बाग मे हम देखते है कि डाली पर खिले पुष्प अपनी महक छोडते रहते हैं और उस सुन्दर उपवन मे जहाँ कि एक विशाल सृष्टि उन पुष्पो के रूप मे हँसती और मुसकराती मिलती है, तो वहाँ भवरा जाता है और जब जाता है, तो उस फूल के रग-रूप पर वह भवरा नहीं गडबडाता।

सूने जगल मे और उन पर्वतो की घाटियो मे वन गुलाब का एक घना जगल देखने को मिला । ऐसा लगता था कि प्रकृति जब अपना भडार भरने के लिए कमर बाध कर खड़ी हो जाती है, तो वह तो लुटा देती है अपने सर्वस्व को और इस प्रकार से वह सारी घाटी महक रही थी उन वन-गुलाबो से ।

जब हम उस घाटी के पास पहुँचे, तो देखा कि हजारो भवरे यहाँ भी आ गये हैं, और भन-भन कर के उन फूलो पर गुँजार कर रहे हैं ।

हमारे जैसे यात्री का भी, जिसका कदम तेज होता है, इधर-उधर की परिस्थितियाँ जिन कदमो मे बेडियाँ नही डाल सकती, पर उस परम प्रकृति के उपासक भवरे के उन आदर्शों ने हमारे भी जिन्होने कभी भवरे को न देखा हो और देखा हो, तो इस तरह से उसके विशाल रूप को न देखा हो, मानो पैरो मे बेडियाँ डाल दी । हम उनकी तरफ आकर्षित हुए । हमने देखा कि सभ्य रूप से वह एक जगह बैठा जरा देर और फिर उड गया । दूसरे पर बैठा । दूसरे पर से उडा थोडी देर बाद और फिर तीसरे पर जा बैठा थोडी देर । वहाँ से भी उडा और चौथे पर बैठा । इसी प्रकार एक पर थोडी देर बैठकर उडता चला जाता है और दूसरे पर बैठता जाता है । इसी तरह उडने और बैठने का यह क्रम उसका जारी था । वह स्थायी रूप मे फूल पर नही बैठता है । वह रस लेकर अपनी तृप्ति तो करता है, पर फूल की हानि नही करता । थोडा रस इसमे लिया और थोडा उसमे लिया । झट-पट

रह जाए । तू भोजन का अपमान बाहर मे देखकर न कर देना, बल्कि तू अपने जीवन के क्षेत्र मे डटकर, बाहर मे पदार्थ कैसा है और कैसा नहीं, उसके रूप-रग और बनावट पर ध्यान न देकर उसकी उपयोगिता पर ध्यान देना।

"और, अगर उपयोगी है, तब भी क्या है ? उस पर जोंक बनकर मत लग जाना उसे चूसने के लिए। क्योंकि जोंक जब लग जाती है, तो वह खून को चूसती जाती है, चूसती जाती है। वह निर्णय नहीं कर पाती कि कितना मुझे चूसना है और कितना नहीं ? वहा भी भवरे को अपने सामने रखना। वह जोंक की तरह एक जगह ही बैठकर नहीं चूसता। वह जल्दी-जल्दी एक से दूसरे पर उडता रहता है और तब भी किसी को कष्ट नहीं देता जोंक की तरह।

"इस प्रकार से, हर साधक को चाहे वह साधक साधु रहा हो और चाहे गृहस्थ रहा हो, अपने जीवन के क्षेत्र मे उसे अपने जीवन के तत्त्वों को ठीक तरह से इस ससार मे मे ही प्राप्त करना है। इसे वह करे, इससे उसको विरत होने की आवश्यकता नहीं। पर, भवरे की तरह से ही अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करे।

"मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा भी आनन्दपूर्वक चलाए और समाज का शोषण भी न करे जोंक की तरह से। भवरा इस शोषण का विरोध करता है। वह यह कहना चाहता है कि मैं फूल पर से अपना आहार ले लेता हूँ, पर ध्यान रखता हूँ कि मेरे आहार लेने मे उसको कोई चोट न लगे। वह ज्यों का त्यों रहे। उसकी किसी भी कली को पीडा न हो। अपनी

सामने हैं। इसमें से आप अपने जीवन के तत्त्वों को प्राप्त करके उसका पोषण करें। लेकिन, क्या करें ? ऐसा करें कि जैसा भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा कि—

"न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं।"

—दशवैकालिक सूत्र, १।२

जैसे वह भवरा न तो फूलों को किलामना देता है, न पीडा पहुँचाता है और इतना न करते हुए अपने-आप भी भूखा नही रहता। इस तरह अपने-आप को भूखा रखना, यह भी आदर्श नही और समाज का शोषण करना और उसे पीडा देना, यह भी कोई आदर्श नही। आदर्श तो यह है कि अपना काम भी निकाल लेना और किसी को पीडा और त्रास भी न देना। यह कला है जीवन की!

लोग जिन्दा रहना चाहते है, पर जिन्दा रहना, यह भी एक कला है। यह जिन्दा रहने की कला भी आप जानते है कि नही ? आप लोग समझते है कि नही इस कला को ? लोग अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहते हैं। अस्तित्व तो पशु, कीडे-मकोडे, कूकर-शूकर आदि भी अपना रखते है। हिंसक और क्रूर जानवर शेर, चीता वगैरह भी अपना अस्तित्व रखते है।

अगर आप मनुष्य के रूप मे अपना अस्तित्व रखना चाहते हैं, तो आपको जीवन की यह कला सीखनी पडेगी और जीवन की यह कला इतनी ऊँचाई से सीखनी पडेगी कि उसके अनुसार चलकर वह एक ऐसा आदर्शमय जीवन हो, जो दूसरों के लिए भी आदर्श बनकर रहे।

और वह भवरा गन्ध-पान करता है। न फूल को पता लगता है कि मेरा शोषण हो रहा है या मेरा अस्तित्व लुट रहा है और न भवरे को ही मालूम होता है कि मैंने उसको लूट लिया है। दोनो ही आनन्द से ओतप्रोत रहते है।"

इसी प्रकार सामाजिक जीवन मे वह चाहे साधु हो और चाहे गृहस्थ हो, इस समाज-रूपी फूलो के बाग मे जो अपना जीवन गुजार रहे है, वे समाज को फूल समझे और अपने-आपको भवरा समझे। अपने चारो तरफ जो समाज है, उसे फुलवाडी समझे और खुद को भवरा समझे। इस प्रकार जीवन की जो कला है, उसे सीखे। अपने अस्तित्व को मानव के रूप मे बनाए रक्खे, अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति भी भवरे की तरह समाज मे से करे। शोषण न करे, जिस से दोनो के जीवन मे आनन्द की धारा बहे। जिससे रस ले, वह भी मुसकराए और लेने वाला भी गुनगुनाए, आनन्द-विभोर हो जाए। यह जीवन की कला जिनको मिल गयी, उनका इस जीवन मे भी कल्याण है, और आगे भी कल्याण है।

इसका अर्थ आपकी समझ में आ गया होगा। लेकिन फिर भी, मैं आपको बताये देता हूँ। आपको कुछ कहने के लिए ही तो मैं बैठा हूँ और आप सुनने के लिए बैठे है। इसलिए उसका थोडा-सा अर्थ मुझे भी करना है।

धर्म का लक्षण, उसका स्वरूप, उस धर्म का मूल या आधार क्या है? यह पूछे जाने पर आचार्य ने कहा कि—"अहिंसा लक्षणो धर्म" धर्म का लक्षण, स्वरूप, मूल या आधार, जो कुछ भी कहे, वह अहिंसा है।

संसार-भर के जितने भी धर्म हैं, वे धर्म है भी कि नहीं, संसार के जितने भी पन्थ है, वस्तुतः उनमें धर्म का आधार है या नहीं, जितनी भी परम्पराएँ संसार में है, संस्कृतियाँ है, संस्थाएँ है, सम्प्रदाय है, और साहित्य है, वस्तुतः उनमें सचाई है या नहीं, वह धर्म या संस्कृति वास्तव में है या नहीं और वह संस्कृति भी ठीक तरह की संस्कृति है या नहीं? इन सबकी एक ही पहचान है। आचार्य ने उसके लिए कसौटी बतलायी है। उन्होंने यही देखा है कि इनमें अहिंसा का भाव है या नहीं?

यह अहिंसा का भाव कम या अधिक है या कितना है, यह प्रश्न दूसरा है। कहाँ कितनी अहिंसा को स्थान मिला है, और किसने कितनी बड़ी अहिंसा की चर्चा की है, कौन कितनी अहिंसा के भावों को पहचान सका है—यह प्रश्न अलग है। लेकिन, अगर उस धर्म में अहिंसा की वृत्ति को उत्तेजना दी गई है और मनुष्य के अन्दर रही हुई कोमल भावनाओं को सुनने की कोशिश की गई है, तो आचार्य ने कहा है कि

नापने का और सबके स्वरूप को समझने का हमारे पास एक ही नाप है, और वह है अहिंसा का।

उस वैद्य की जिस तरह मजाक उडाई जाती थी, सभव है, इस अहिंसा के नाम पर हमारी भी मजाक उडाई जाती हो। परन्तु, हमे इसकी परवाह नही है। हँसने वाले हँसा करेंगे और हम काम करने वाले अपना काम करेंगे।

हम तो एक ही मूल बात को पकडकर चलते हैं कि उस धर्म के पीछे कोई कोमल भावना है या नही? उसके पीछे वस्तुत मानव-जीवन का ठीक-ठीक विश्लेषण किया गया है या नही? उस धर्म मे आत्मा को पहचानने का ठीक-ठीक प्रयत्न किया गया है या नही? यह प्रश्न जरा विचारणीय है। और, अगर इस ढग से हम विचार करेंगे और इस ढग से हम सोचेंगे, तो मैं समझता हूँ कि बीमार की हालत को हम ठीक रूप मे पहचान पाये हैं।

वैद्य जब नब्ज परखता है, तो रोगी रोग के मूल को पकड लेता है। इसी रूप मे मनुष्य की आत्मा या ससार-भर के प्राणियो की आत्मा अनादि काल से बीमारी की हालत मे है। उसे अभिमान का रोग लगा है, माया की व्याधि लगी है, लोभ मे जकडा हुआ है, क्रोध से उन्मत्त बना हुआ है और इसी तरह से ससार-भर की वासनाओं के रोग म मानव-जीवन फँसा हुआ है।

इन रोगो के कारण मानव स्वय भी तग है और परिवार-के-परिवार भी उनसे तग आये हुए है। किसी को कोन

इसके विपरीत, मानव-जीवन ज्यो-ज्यो विशाल होता है और अपने मे से निकल कर मानव जब परिवार मे चलता है, तो परिवार के सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख समझने लगता है। इसी प्रकार मानव जब विशालता की ओर एक कदम और बढ़ाता है, तो परिवार से निकल कर समाज मे चला जाता है और समाज के सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख समझने लगता है। इसी प्रकार कुछ मनुष्य है, जो समाज से भी आगे बढते हैं और राष्ट्र के अन्दर चले जाते हैं। राष्ट्र तक अपनी आत्मानुभूति फैलाने लग जाते हैं। ज्यो-ज्यो आदमी आगे बढता जाता है, त्यो-त्यो वह अपनी आत्मानुभूति का दायरा भी बढाता जाता है। वह राष्ट्र से भी आगे बढकर अखड मानव-जाति को अपनाता है और उसके सुख दु ख के साथ एकाकार हो जाता है।

यह बात सभी धर्मों मे कही गयी है और खास कर जैन-धर्म मे इसका बडा उल्लेख है। जैनधर्म मे या कि उसके पडोसी धर्मों मे कुछ विचारक ऐसे आये है, जिन्होने एक बडी आवाज लगाई है। वह आवाज ठीक तरह से सुनी गई है या नही और उस आवाज के मर्म को समझने वाले लोग उस समय मिले या नही, और आज भी मिल रहे है या नही, यह मै नही कह रहा हूँ। पर, अपने-अपने अन्तर के विचारो को और अपने भीतर की कोमल भावनाओ को सभी विचारको ने समान रूप से हमारे सामने रक्खा है। उन्होने एक स्वर होकर आवाज लगाई—

"आत्मवत् सर्वभूतेषु, य पश्यति स पश्यति।"

इस सम्बन्ध मे भगवान महावीर ने ससार के सामने यह आदर्श रक्खा कि मरने से प्राणी का इस पाप मे उद्धार नहीं होगा। अगर इस जीवन मे पाप है, अधर्म है और अगर इस जीवन मे चारो ओर ऐसा ससार है कि जो पापमय है, तो इसमे छुटकारा पाने के लिए, जल्दी-से-जल्दी और ज्यादा-से-ज्यादा इस शरीर पर अत्याचार किया जाए, इससे लडा जाए और इसको गला-सडा दिया जाए, यह कोई सही ढग नहीं है पाप से पिंड छुड़ाने का। इस जिन्दगी को जबर्दस्ती से समाप्त कर लेने पर भी आगे जाना पड़ेगा, अगले जन्म मे वही पाप का भूत फिर खडा नजर आएगा। जहाँ भी, जिस किसी भी योनि मे आप जाएँगे, पाप का भूत आगे-आगे भागेगा। मरने से भी इस पाप के भूत से छुटकारा नहीं मिलेगा। अगर पाप का छुटकारा मरने से हो सकता होता, तो एक दिन फैसला कर लेती दुनिया। पर ऐसा फैसला कभी कामयाब नही होता जीवन मे।

अगर आप ठीक तौर से मेरी बात समझ रहे हैं, तो मूल सिद्धान्त सामने आ जाता है। भगवान् महावीर ने इस बारे मे यह कहा है कि मरने से पापो से छुटकारा नही है।

भगवान महावीर के युग मे बहुत से साधक जल मे समाधिया ले लेते थे और हिमालय मे गल जाते थे, अपने इन प्राणों को विसर्जन करके पापो से मुक्ति पाने के लिए। क्योंकि, ससार रहने लायक नही है। इसमे पग-पग पर पाप लग रहा है। अत. मर कर इससे छुटकारा पा ले, तो अच्छा हो।

इसी प्रकार बहुत से साधक पहाड की चोटियो पर से छलाग लगाकर अपने शरीर के टुकडे-टुकडे कर प्राण विसर्जन

यहा यह परिवार छोडकर जाएँगे, तो वहाँ और कोई दूसरा परिवार मिल जाएगा। यह ससार जैसा है, वैसा ही एक ससार और मिल जाएगा। यह सारी गड़बड़ जो-कुछ भी यहा आप देख रहे हैं और जिसके कारण अपने-आपको समाप्त करने की और इस ससार से छुटकारा पाने की जो वृत्ति तुम रख रहे हो, उसका कोई सफल प्रयोग तुम्हारे जीवन मे नही होगा।

"इसलिए तुम्हे तो यह करना है कि इससे छुटकारा पाने के काम को आगे के लिए रक्खो ही मत। पाप से छुटकारा पाने के लिए अगली तारीख डालो ही मत। तुम तो यहाँ देखो अपने जीवन को। अगर अपने जीवन को यहाँ ठीक बना लिया है, अपने पाप के मैल को धो लिया है और तुम्हारे अन्दर के विकार यहाँ समाप्त हो गये हैं, तो यह ससार कैसा भी हो, इससे घबराने की आवश्यकता नही।

"यह ससार कैसा भी रहे, लेकिन तुम्हारी जीवन की प्रतिभा चमके। तुम्हारे जीवन की प्रतिभा का प्रकाश इस अन्धेरी दुनिया मे पडेगा, तो यहाँ पर भी यह ससार जगमगाएगा और यह ससार जो नरक जैसा मिला है, उसे भी स्वर्ग मे बदलने मे आपको देर नही लगेगी। इस ससार को यहाँ ठीक बना लिया, तो जहाँ कही आगे जाओगे, तुम्हारा ससार वहाँ भी मगलमय रहेगा, वहाँ भी तुम आनन्द-मगल मे रहोगे। यहाँ से पहले जीवन का प्रकाश लेकर जाओगे, तो उस अन्धेरी दुनिया मे भी यह प्रकाश तुम्हारे जीवन के मार्ग को प्रशस्त बनाएगा, प्रकाशमय कर देगा।

बदलती है, तो दशा भी बदल जाती है। लोग दिशा नही बदलते, अपने विचारो का मोड नही बदलते और कहते हैं हमारी दशा नही बदलती। तो, जब दिशा ही नही बदली, तो दशा कैसे बदले? इसलिए जितने भी शास्त्रकार है, वे सब हमे दिशा बदलने के लिए कहते हैं।

प्रसग चल रहा था आपके सामने कि साधक ने पूछा पाप-कर्म से छुटकारा कैसे मिले? कौन-सा ऐसा मार्ग है, जिस पर चलने से पाप-कर्म जीवन मे न आए? भगवान् महावीर कहते हैं पाप कहाँ लग रहा है? पाप कही बाहर से नही आ रहा है, पाप किसी परिवार मे से नही आ रहा है, पाप किसी समाज मे से नही आ रहा है, और पाप किसी राष्ट्र मे से भी नही आ रहा है। उसका मूल तो तुम्हारे अन्दर है। उस मूल को कैसे तोडा जाए और तोडकर अपने जीवन को पवित्र बनाने के लिए क्या किया जाए? इसका उत्तर देते हुए भगवान फरमाते हैं —

'सव्व-भूयप्प भूयस्स"

संसार-भर के तमाम प्राणियो को अपनी आत्मा के समान समझने की कोशिश करो।

और क्या करो?

"सम्म भूयाइ पासओ"

ससार मे जितने भी प्राणी हैं, उनमे अपने आपको समझो और जितनी भी आत्माएँ हैं, उनको अपने अन्दर मे समझो।

मतलब यह है कि इस ससार मे जो ये पन्थ हैं, प्रवृत्तियाँ हैं, अलग-अलग भेद हैं, वह किसी व्यक्ति के रूप मे तो भले ही रहे, पर भावना की दृष्टि से, सूक्ष्म भाव जगत् की सृष्टि मे कोई भेद नही रहना चाहिए।

अगर तुम इस रूप मे अपने भावो को फैला सके, सम्पूर्ण विश्व की आत्माओ मे अपनी आत्मा को समझ सके तो ऐसी स्थिति में किसी को कष्ट दोगे, तो यही समझोगे कि मै अपनी आत्मा के अश को ही कष्ट दे रहा हूँ। किसी को गाली दोगे, तो यही समझोगे कि मैं अपने-आपको ही गाली दे रहा हूँ। क्योंकि, सारे विश्व की आत्माओ मे मेरी आत्मा भी आत्मसात् है। यदि किसी को गाली दोगे, कष्ट दोगे, तो उस हालत मे अपनी चोट, अपनी गाली अपने ऊपर ही पडेगी। एक हाथ मे चाकू उठाओ और उसे दूसरे हाथ में मारो, तो एक ही प्रकार का कष्ट होगा न ? इस तरह एक हाथ में चाकू लेकर दूसरे हाथ में मारना एक तरह से पागलपन की निशानी होगी, क्योंकि इस तरह का काम अपने-आप में कोई सही दिमाग रखने वाला नही कर सकता।

इसी तरह ससार-भर के प्राणियो को अपने समान मानकर इस समूचे जगत् को एक विराट् रूप में अगर स्वीकार कर लिया, तो उस हालत मे ससार भर के विकारो और वासनाओ से धीरे-धीरे छुटकारा मिल जाएगा। सारे काम, क्रोध, मान, अहङ्कार और दुनिया-भर के विकार और वासनाएँ अपने-आप कम होनी शुरू हो जाएँगी। और अन्त मे उपसहार करते हुए भगवान् ने यह और कह दिया —

"पाव कम्म न बन्धइ।"

इस तरह का आचरण करने वाले को पाप-कर्म नही लगता।

यह जो सूत्र है, इस पर आप ठीक तौर से विचार करेंगे, तो मालूम होगा कि इस मे अहिंसा की भावना खिल रही है। समस्त विश्व मे जितनी भी आत्माएँ हैं, उन सबके साथ मे इसी अहिंसा का सूत्र जोडा जा रहा है।

इस हालत मे मै कह रहा था कि लोभ जो है, वह क्या चीज है ? लोभ का मतलब यह है कि मनुष्य विशाल जगत् मे सम्बन्ध कायम नही करता। सबसे सम्बन्ध तोडकर छोटे-छोटे घर बनाकर प्राणी खासकर अपने-आप मे बन्द होना शुरू हो जाता है। लोभ की हालत मे प्राणी अपने ही सुख को सुख और अपने ही दु ख को दु ख समझता है और परिवार के सुख-दु ख मे अपना कोई हिस्सा नही समझता।

परिवार मे कोई आदमी बीमार है और बीमारी से छट-पटा रहा है, पीडा से तग आ रहा है, रात-भर हाय-हाय करता है। उस हालत मे, यदि किसी के मन मे यह आया कि यह बीमार नाहक मुझे क्यो तग कर रहा है, मेरी नींद क्यो हराम किये हुए है, तो ऐसी सूरत मे मैं समझता हूँ कि ऐसा सोचने वाला लोभ के रोग से लिप्त है, स्वार्थ के रोग से सना है। अहिंसा के तो उसने टुकडे-टुकडे कर दिये हैं। हत्या हो गई उसकी अहिंसा की उसके पास कुछ भी नही बचा है। यह पाप की पराकाष्ठा है। उसकी मनुष्यता भी मर गई है। उसने कुछ भी प्राप्त नहीं किया जीवन मे।

घर मे एक व्यक्ति बीमार है, दुखी है, छटपटाता है और इस कारण अगर दो-तीन घण्टे आपके लग गये, तो विचार करने लग जाएँ कि यह क्या गडवडी है? उस समय अगर आप के अन्दर मे यह विद्रोह जग पड़ा कि यह क्या बला आ पडी है? और उस स्थिति मे अगर आप उस बीमार मे अपनी आत्मानुभूति नही डाल सके और उसकी आत्मानुभूति अपने अन्दर नही डाल सके, आपके मन मे अगर कोइ विचार नही पैदा हो सका, तो आपका संसार-भर के प्राणियो मे अपने-आपको समझने का विचार मिथ्या है। आप इस तरह समभाव नही पैदा कर सकते। आपको थोडी सी तकलीफ होती है, तो आप बोलते हैं बीमार को कि शान्ति से क्यों नही पडे रहते? हमे सोने क्यों नही देते? हमारी तो नींद खराब हो रही है।

उस समय, जिस समय कि एक बीमार कराह रहा है, अगर आप ऐसा सोचते हैं, तो आपकी भी इन्सानियत की हत्या हो गई है। और, उस इन्सानियत की हत्या के नीचे अहिंसा की भी हत्या हो गई है। आपके सब-के सब गुण मर गये हैं। आपके अन्तर मे लाशो का ढेर भर गया है, विशाल और उन्नत विचारो को कोई स्थान नही रहा आपके अन्दर की दुनिया मे। उनकी लाशे हो गई। आपका हृदय उनके लिए श्मशान-भूमि बन गई है। उस श्मशान-भूमि मे भावनाओं का जीवित-जागृत ससार नही रहा।

इस दृष्टिकोण को अगर हम साफ तौर से सही रूप में समझ रहे है, तो मुझे स्पष्ट रूप मे कहना यह है, जैसा कि हमारे आचार्य ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है —

"अहिंसालक्षणो धर्म, अधर्म प्राणिना वध ।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोके, कर्तव्या प्राणिना दया ॥

धर्म का लक्षण अहिंसा है, धर्म का मूल अहिंसा है।

अहिंसा का अर्थ क्या है? आपके हृदय की कोमलता आपके हृदय की नम्रता, और आपके हृदय की तह मे पैदा होने वाली दूसरो के सुख दु खो की अनुभूतियाँ। आपका जीवन एक इकाई बनकर न रह रहा हो बल्कि उसके अन्दर परिवार के जितने भी व्यक्ति हो, वे आ रहे हो, समाज के जीवन की अलग-अलग इकाइयाँ आ रही हो, बाहर मे जरूर आप एक इकाई दिखाई दे रहे हो, लेकिन अन्दर मे आप अकेले एक नही हो, अन्तर मे अनेक हो, अनन्त हो। यही दृष्टिकोण दार्शनिक दृष्टिकोण है अहिंसा के सम्बन्ध मे।

इस हालत मे मुझे कहना चाहिए कि परिवार के दस-पाच आदमी अपने आप मे एक-एक इकाई जरूर है, लेकिन उसकी आत्मा के अन्दर जितने भी परिवार के अन्य आदमी है, सब सूक्ष्म रूप मे फैले रहने चाहिए। अगर परिवार के एक व्यक्ति के अन्दर बूढे माँ-बाप हैं, तो वे भी इसम रह रहे हो, पत्नी है, वह भी अन्दर रह रही हो, बाल-बच्चे हो, तो वे भी अन्दर रह रहे हो, छोटे-बडे है, तो वे भी अन्दर रह रहे हो और इस प्रकार इन सबके प्रति प्रेम, स्नेह और वात्सल्य के भाव झलक रहे हैं, तो समझ लेना चाहिए कि शरीर रूप मे बाहर आप एक जरूर है, लेकिन अन्दर एक इकाई नही हैं। जितने भी परिवार के व्यक्ति है, वे सब उसमे समाविष्ट हो गये हैं।

इस प्रकार से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, परिवार को और परिवार के सब व्यक्ति एक-दूसरे को अपने अन्दर मे देखे और एक तरह से एक-दूसरा एक दूसरे को अपने जीवन मे उठाये घूम रहा हो और उन सबके जीवन का अस्तित्व अपने जीवन मे लेकर चल रहा हो, तो इसको हम अहिंसा की नीति कहते हैं। उनमे अहिंसा की भावना आई है, अहिंसा का स्रोत छलक रहा है उनके अन्तर मे।

जब तक जीवन मे अहिंसा नही होगी, तो मनुष्य का अपना अस्तित्व ही नही टिक सकेगा। जब तक अहिंसा की भावना नही होगी, तो परिवार का अस्तित्व नही रहेगा, समाज का अस्तित्व नही रहेगा और राष्ट्र का अस्तित्व भी नही टिक सकेगा। जब तक अहिंसा की मनोवृत्ति अपने जीवन में नही होगी, तब तक विश्व का अस्तित्व भी नही रह सकेगा।

आचार्य ने आगे कहा है—

"अधर्म प्राणिना वध ।"

अधर्म क्या है ? पाप क्या है ? विकार और वासनाएँ क्या हैं ? आचार्य ने इन सबको हिंसा के रूप मे देखा है। किसी प्राणी को कष्ट देते हैं, पीडा देते हैं, उसके सम्बन्ध में गलत बात कहते हैं, उसके जीवन की प्रगति की रुकावट में हिस्सा ले रहे हैं और उस प्राणी की जीवन की प्रगति को रोक कर खडे हो रहे हैं, तो यह सब हिंसा है। आचार्य आगे कह रहे हैं—

"तस्माद्धर्मार्थिभिर्लोके, कर्तव्या प्राणिना दया ।"

इसलिए जो धर्मात्मा लोग हैं, चाहे वे किसी भी पन्थ के अनुयायी हों, कोई भी सम्प्रदाय रख रहे हों, चाहे कोई भी श्रद्धा या विश्वास रख रहे हों, अमुक ढग से ईश्वर की आराधना कर रहे हों, वेश-भूषा और पद्धति मे कैसा भी अन्तर हो, नमस्कार करने की पद्धतिया भले ही अलग-अलग हों, पूजा-पाठ और सिद्धान्त की भले ही अलग-अलग परम्पराएँ हों, हमें इन सबसे सघर्ष नही करना है।

पर, धर्म के सम्बन्ध मे एक बात जरूर कहनी है कि जो भी पूजा-पाठ, नमस्कार या सम्प्रदाय की पद्धति हैं, अगर वे आपके जीवन मे कोमलता के भाव जागृत कर रहे है, अगर आपकी इन्सानियत को ऊँचा उठा रहे है, आपके मन के क्षुद्र घेरे को तोड रहे है और इस प्रकार आपके क्षुद्र भावों को एक विराट् जीवन का रूप दे रहे है, तो इस हालत मे वे सब-के-सब उपादेय है, उन्हें ग्रहण करना ही चाहिए। किसी भी हालत मे उन सब परम्पराओं को छोडना नही चाहिए।

और, अगर कोई भी पूजा-पाठ, नमस्कार आदि की पद्धति, कोई भी रूप और कोई भी क्रियाकाण्ड आदि आपके जीवन के रस को सोख रहे, है आपके अन्तर मे जो स्नेह का, दया का और प्रेम का प्रवाह चल रहा है, उसे रोक कर खडे हो रहे है और ज्यों-ज्यों आप उनकी साधना कर रहे है, त्यों-त्यों जीवन सूखा-सूखा होता चला जा रहा है, तो विचार करना होगा कि आप जा किधर रहे है?

प्रारम्भ मे साधना के क्षेत्र मे प्राणी जब आता है, तो मन को विराट् रूप मे लेकर आता है, एक स्नेह का जीता-जागता

स्रोत दीख पडता है उसके अन्दर। पर, ज्यो-ज्यो वह धर्म के क्षेत्र मे आगे बढे, धर्म के क्षेत्र मे आगे काम करे, त्यो-त्यो उसका जीवन अगर सूखा होता चला जा रहा हो, नीरस होता चला जा रहा हो, उसकी आत्मानुभूति कम होती चली जा रही हो, वह दूसरो के सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख समझने से कतराता चला जा रहा हो अपने जीवन को छोटे से घेरे मे बन्द करता चला जा रहा हो, अपनी सस्कृति और सभ्यता से रहित होता जा रहा हो, स्वार्थ के कूड़े-करकट को फेक कर अलग कर सके, यह सामर्थ्य न रहे, वरन् कमजोर होता जा रहा हो, विराट् जीवन की रूप रेखा से दूर होता जा रहा हो और इस जीवन-सघर्ष मे अपने जीवन की ज्योति को भुलाकर, अज्ञान के दु ख के पीडा के और दुर्गुणो के अन्धकार को चीरने में असमर्थ हो रहा हो, और इन कारणो से अपने जीवन को प्रकाश-पु ज मे बदलने मे असमर्थ हो रहा हो, तब हमे समझना चाहिए कि गडबडी हो रही है इस जीवन मे। यह तो वही बात हो गई—

"हिमवद्गन्तुकामस्य, गमन सागर प्रति"

कोई महाशय चले हिमालय की यात्रा करने के लिए और हिमालय की यात्रा करने की धुन मे पहुँच गये कहाँ पर ? समुद्र की सतह पर।

तो, जो हिमालय की यात्रा करने चला, वह समुद्र
से पहुँच गया ? इसका मतलब यह है कि वह रास्ता
उसने ठीक रूप से यात्रा का नक्शा अपने सामने
और इस कारण से हिमालय की यात्रा करते हुए

गया। इस तरह अगर कोई समुद्र की यात्रा करते-करते हिमालय पहुँच जाए और हिमालय की यात्रा करते-करते समुद्र मे पहुँच जाए, तो हमे सोचना पडेगा कि जरूर कही-न-कही गड़वड है इसमे।

अगर जीवन के प्रकाश मे आपको जाना है, तो पहले रास्ते को समझे। स्वार्थों के घेरे मे बन्द होकर अपने जीवन को वहाँ-का-वहाँ समाप्त कर देना, यह अधर्म है। इसको देख-समझकर आप इसे अपने जीवन मे उतारे और अपने स्वार्थों को समझ कर उन्हे त्याग करने की वात सोचे। अगर यह भावना आप मे आ रही है, तो त्याग की भावना आपके अन्तर मे विराट् होती जाएगी, यह सौ फीसदी निश्चित है। और, इस विराट भावना का नाम ही अहिंसा है।

अहिंसा की व्याख्याओं पर जब हम विचार करते है, तो ऐसा मालूम होता है कि अहिंसा के सम्वन्ध मे हमारे पूर्वाचार्यों ने बहुत सूक्ष्म चिन्तन और मनन किया है। अहिंसा के एक छोटे-से चित्र को लेकर भेद-प्रभेद द्वारा उन्होने हमे कहाँ-का-कहाँ पहुँचा दिया है। इसका मतलब यह है कि उन्होंने इस जीवन का गहरा मनन और चिन्तन करके इस मानव-यात्रा का स्वरूप जाना है, और उसके भेद, उसकी समस्याओं को, परिवार की समस्याओं को, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व की समस्याओं को जाना है। संस्कृति और सभ्यता सबको मानो उन्होंने छू लिया है। हजारो भेद-प्रभेद करने के बाद मे भी

आखिर मे उन्होने यही कहा कि "ये भेद जो हमने अनेक रूपो मे किये हैं, ये भी नगण्य है। एक समुद्र के सामने यह तो एक विन्दु का रूप है और इसलिए अन्त मे कह दिया कि हम अहिंसा को भेद-प्रभेद मे ठीक उसी तरह नही बॉध सकते, जिस तरह कि किसी छोटे-से वर्तन मे समुद्र को नही भरा जा सकता। क्योकि समस्त जीवन ही अहिंसा है।

इस तरह इस अहिंसा का विशाल और अनन्त रूप उन्होने हमारे सामने रख दिया है। फिर भी, ठीक-ठीक तरह से सोचें, तो भेद-प्रभेद के रूप मे अहिंसा का एक भेद करे, दस भेद करे या कि दस लाख या अठारह लाख या चौरासी लाख भेद करे। ये भेद याद हो या न हो, उन सवमे हमे मतलव नही। हमारा मतलव एकमात्र यह है कि हम अहिंसा के मूल को पकड ले। मूल को पकड़ लेते हैं, तो सारे जीवन की समस्याएँ हल होती हुई नजर आती हैं।

अव प्रश्न यह है कि अहिंसा के इस विशाल तत्त्व को अपने जीवन मे कैसे समावे, कैसे उतारें? वह अनन्त अहिंसा का रूप जीवन मे कैसे पैदा किया जाए? इस सम्वन्ध मे स्पष्ट सत्य मैं आपके सामने रख देना चाहता हूँ।

वात यह है कि जव हम यात्रा करते है हिमालय की तरफ, तो हमारी दृष्टि कहॉ रहती है? हमारी नजर, हमारी ऑख किस तरफ और कहॉ रहती है? उसकी चोटी पर। विशाल जो उसकी चोटियॉ हैं, वे ऑखो के सामने रहती हैं। पर, पैर कहॉ रहते हैं? कदम कहॉ रहते हैं? तलहटी पर, भूमि पर।

जो भी कदम आगे बढने के लिए, चोटी पर चढने के लिए रखते है, तो वह कदम रहता है धरती पर।

इसका अर्थ यह है कि विचार तो आपके जरूर ऊँचे रहने चाहिएँ, विचारों के दृष्टिकोण से तो आपकी भावनाएँ हिमालय की ऊँची-से-ऊँची श्रेणियों को जरूर छू जाएँ और जब आपके विचार विराट होंगे, तो एक दिन आपका, आपकी अहिंसा का क्रमिक विकास होता चला जाएगा। धीरे धीरे आचार-व्यवहार के रूप मे एक-एक कदम करके आप उसको नापते चला करेंगे और जहाँ आपकी दृष्टि गडी है, एक दिन आपके पैर, आपका जीवन, उस विचार, उस दृष्टिकोण के मूल पर अवश्य पहुँच जाएगा।

लेकिन, अगर आपने अपने आदर्श को ही छोटा बना लिया, विचारों के आदर्श को ही छोटा चुन लिया और यह फैसला कर लिया कि क्योंकि इतनी बडी अहिंसा हमसे पल नहीं सकती है, इसलिए दर्शन और चारित्र की दृष्टि से भी और विचारों की दृष्टि से भी अहिंसा के आदर्श को ही क्यों न छोटा कर ले? यह बात कम-से-कम हमारे ध्यान मे नहीं आने वाली है। वास्तविकता तो यह है कि आप करोड़ों की सम्पत्ति कमाना चाहते है और इस तरह हजार, दस हजार या लाख, दस लाख, को छोडकर करोड़ो का आपने अपने सामने आदर्श रक्खा है। चाहे आप इतना न भी कमा सकते हो, सौ कमाते हो या हजार कमाते हो, तो भी इच्छा रखते हो, पर लक्ष्य आपने करोड़ का बनाया है।

ठीक इसी तरह आपकी जीवन-यात्रा है, आपकी समार-यात्रा है। लेकिन चूँकि इतनी बडी बात, इतनी बडी अहिंसा को अपने जीवन मे आप उतार नही सकते है, इसलिए अहिंसा के आदर्श को, जीवन के आदर्श को छोटा बना लेना, यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नही है। यहाँ पर मुझे एक बात याद आ जाती है कहानी के रूप मे।

एक राजा था, जिसके कोई लडका नही था। सिर्फ एक लडकी थी। राजा, उसका प्रेम से पालन कर रहा था। पालन-पोषण करते-करते एक समय ऐसा आया कि रानी का देहान्त हो गया। अब सारा प्रेम, सारा स्नेह, सारी कोमल भावनाएँ उस लडकी पर केन्द्रित हो गई उस राजा की।

लोगो ने कहा दूसरा विवाह कर लीजिए। राजा ने कहा यह सब बीती दुनिया की बाते हैं। अब यह जीवन कहाँ जाएगा? किस रूप में जाएगा? जीवन के इस मध्याह्न मे और इस ढलती हुई उम्र मे जब एक साथी का वियोग हो गया है, तो मैं दूसरे साथी की तलाश में अपने जीवन को इधर-उधर भटकाना नहीं चाहता। इसका अर्थ तो यह होगा कि मैं अपने-आप मे जीवन के तत्त्व को समझा नहीं हूँ। यह प्रतीक है मेरे उस साथी का और इस प्रतीक-रूप लडकी का मैं पालन-पोषण करूँगा अच्छी तरह से।

इसी तरह कुछ दिन बीते। एक दिन राजा ए
जगल मे गया। वहा उसने क्या देखा कि एक
वह भी इस स्थिति मे पडा है कि जिसका
वारिस नहीं दिखाई देता था। उसको राजा

ही अवारा पड़े थे जगल मे। राजा का मन हुआ, तुम्हे उठा लाए। जब तक मन है, तुम्हे रक्खेगे। नही तो धक्के दे कर अलग कर दिये जाओगे। तुम्हारे जीवन का कोई मूल्य नही है इस सम्बन्ध मे।

लडके के मन मे कुछ विचार हुआ। उसने इस बारे मे पूछ-ताछ की अपने मित्रो से और पता चला कि वास्तव मे वह ऐसा ही है।

मित्रो ने भी कहा वास्तव मे तुम तुम ऐसे ही थे। सयोग से यहाँ आ गये हो। होश सम्भाल लिया है अब तुमने। युवक हो गये हो तो अब यहाँ से निकाल दिये जाओगे। इसलिए जाने से पहले, धक्के देकर निकाले जाने से पहले, जब तक राजा तुम पर प्रसन्न है, कुछ आगे के लिए माग लो। लाख, दो लाख की सम्पत्ति भी अगर मागनी है, तो माग लो। अभी तो क्योकि राजा प्रसन्न है तुम्हारे पर, इसलिए मिल जाएगी और भी जो तुम्हे जरूरत हो, वह माग लो। राजा दे ही देगे। पर, बाद मे जब धक्का देकर निकाल दिये जाओगे, तो कुछ नही मिलेगा। यहा से फिर उस हालत मे कहाँ जाओगे और कहाँ नही जाओगे—यह सब अधेरे मे है।

लडके ने विचार किया ये लोग ठीक ही कहते है। अभी तो राजा की अच्छी मेहरबानी है। माग ले कुछ, तो अच्छा ही है।

यो सोचकर मुँह लटकाये, मुहर्रमी सरत बनाये, आँखो मे तो आँसू नही, पर चेहरे पर हजार-हजार आँसुओ का

प्रतिविम्ब डाले हुए वह लड़का पहुँचा राजा के पास। और वडे दीन-भाव से खडा हो गया एक तरफ।

ज्यो ही राजा ने उसकी सूरत देखी, तो सोचा मैं इसको कुछ और वनाना चाहता हूँ। मै इसके अन्दर तेज और प्रकाश देखना चाहता हूँ। आज यह इस तरह का मोहर्रमी चेहरा लेकर, दीन-हीन कगलो और भिखारियो की तरह का चेहरा लेकर कहाँ से आ गया है? यह किधर भटक गया है?

राजा ने कहा क्यो, क्या वात है बेटा?

"आपके चरणो मे एक प्रार्थना है। एक भिक्षा मागनी है, अगर आप दे सके तो।"

और लोग भी इधर-उधर से इकट्ठे हो गये।

राजा ने कहा मन मे इसमे भीख मागने की मनोवृत्ति कहाँ से आ गई है? यह चीज इसके अन्दर किधर से घुस गई है? कुछ सोच विचार के वाद राजा वोला कहो, क्या मागते हो?

लडके ने कहा मुझे कुछ और नही चाहिए। वडी कृपा हुई कि आपने मेरा पालन-पोषण किया। आपकी मेहरवानी से, आपकी कृपा से जगल मे निरालम्व पडा हुआ मै आज वच सका हूँ। नही तो वहाँ पडा-पडा कभी का किसी हिंस्र पशु के पेट मे पहुँच जाता। लेकिन, आपकी कृपा से मै वच गया हूँ। आपने वडी मेहरवानी की। अब एक और कृपा कर दे, तो अच्छा हो।

"क्या?"

"महाराज, एक साधारण-सी विनती है। जब मैं यहाँ से चला जाऊँगा, तो कहाँ रहूँगा? इसके लिए आप कृपा करके एक छोटा-सा झोपडा दे दे, तो उसमे ही मै अपना अच्छी तरह गुजारा कर लूँगा।"

"बहुत ठीक, और क्या?"

"बस, मेरे को और तो क्या? अगर आपकी कृपा हो, तो आपके यहा कई दास-दासियाँ हैं, उनके कई परिवार आपके आश्रित हैं, इन परिवारो मे से किसी एक दासी के साथ आप मेरा विवाह कर दे, तो बस ठीक है। हम दो हो जाएँगे और इस तरह जीवन की यात्रा आनन्द से पार कर सकूँगा मैं।"

"और चाहिए कुछ?"

"दस-बीस हजार तो नही, जो-कुछ भी थोडी-बहुत पूँजी आप दे सके, तो उससे मैं अपना छोटा-मोटा धन्धा कर लूँगा और अपना जीवन-यापन अच्छी तरह से कर सकूँगा। इसलिए मुझे छोटी सी रकम मिल जाए, तो अच्छा।"

राजा ने अपने माथे पर हाथ फेरा और सोचा कि—'कैसा बेवकूफ है यह? इस जीवन मे यह क्या माग लेकर आया है? मैं तो इसको झोपडा नही, राजमहल देना चाह रहा था। किसी दासी से यह अपनी शादी करा देने की बात कहता है। मै तो इसका अपनी राजकुमारी मे विवाह करने के लिए विचार कर रहा था। और, यह दस-बीस हजार की तो बात ही क्या, मैं तो सारा राज्य ही इसे सौंपने की तैयारिया कर रहा था। लेकिन, मै समझता हूँ कि इस लडके के अन्दर कोई तेजस्विता

"महाराज, एक साधारण-सी विनती है। जब मैं यहाँ से चला जाऊँगा, तो कहाँ रहूँगा ? इसके लिए आप कृपा करके एक छोटा-सा झोपडा दे दे, तो उसमे ही मै अपना अच्छी तरह गुजारा कर लूँगा।'

"बहुत ठीक, और क्या ?'

"बस मेरे को और तो क्या ? अगर आपकी कृपा हो, तो आपके यहा कई दास-दासियाँ हैं, उनके कई परिवार आपके आश्रित हैं, इन परिवारो मे से किसी एक दासी के साथ आप मेरा विवाह कर दे, तो बस ठीक है। हम दो हो जाएँगे और इस तरह जीवन की यात्रा आनन्द से पार कर सकूँगा मैं।"

"और चाहिए कुछ ?"

"दस-बीस हजार तो नहीं, जो-कुछ भी थोडी-बहुत पूँजी आप दे सके, तो उससे मैं अपना छोटा-मोटा धन्धा कर लूँगा और अपना जीवन-यापन अच्छी तरह से कर सकूँगा। इसलिए मुझे छोटी सी रकम मिल जाए, तो अच्छा।"

राजा ने अपने माथे पर हाथ फेरा और सोचा कि—"कैसा बेवकूफ है यह ? इस जीवन में यह क्या माग लेकर आया है ? मैं तो इसको झोपडा नहीं, राजमहल देना चाह रहा था। किसी दासी से यह अपनी शादी करा देने की बात कहता है। मै तो इसका अपनी राजकुमारी से विवाह करने के लिए विचार कर रहा था। और, यह दस-बीस हजार की तो बात ही क्या, मैं तो सारा राज्य ही इसे सौपने की तैयारिया कर रहा था। लेकिन, मै समझता हूँ कि इस लडके के अन्दर कोई तेजस्विता

प्रतिविम्ब डाले हुए वह लडका पहुँचा राजा के पास। और वडे दीन-भाव से खडा हो गया एक तरफ।

ज्यो ही राजा ने उसकी सूरत देखी, तो सोचा मैं इसको कुछ और वनाना चाहता हूँ। मैं इसके अन्दर तेज और प्रकाश देखना चाहता हूँ। आज यह इस तरह का मोहर्रमी चेहरा लेकर, दीन-हीन कगलो और भिखारियो की तरह का चेहरा लेकर कहाँ से आ गया है? यह किधर भटक गया है?

राजा ने कहा क्यो, क्या वात है वेटा?

"आपके चरणो मे एक प्रार्थना है। एक भिक्षा मागनी है, अगर आप दे सके तो।"

और लोग भी इधर-उधर से इकट्ठे हो गये।

राजा ने कहा मन मे इसमे भीख मागने की मनोवृत्ति कहाँ से आ गई है? यह चीज इसके अन्दर किधर से घुस गई है? कुछ सोच-विचार के वाद राजा वोला कहो, क्या मागते हो?

लड़के ने कहा मुझे कुछ और नही चाहिए। वडी कृपा हुई कि आपने मेरा पालन-पोषण किया। आपकी मेहरवानी से, आपकी कृपा से जगल मे निरालम्व पडा हुआ मै आज वच सका हूँ। नही तो वहाँ पडा-पडा कभी का किसी हिंस्र पशु के पेट मे पहुँच जाता। लेकिन, आपकी कृपा से मै वच गया हूँ। आपने वडी मेहरवानी की। अव एक और कृपा कर दें, तो अच्छा हो।

"क्या?"

नहीं है। इसके अन्दर जीवन के तत्त्व को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने की शक्ति नहीं है। इसके मन में दीनता की भावना घर कर गई है। इस गलत प्रकार की दीन-भावना के कारण इसने संघर्षों से मुकाबला करने की अपेक्षा, दीन-भावनाओं से लड़ने की अपेक्षा अपने हथियार ही डर कर डाल दिए हैं। और इस प्रकार अपने जीवन का ठीक फैसला नहीं कर सका है यह।

"अगर किसी ने इसे कुछ कहा है या किसी ने इसको बहका दिया है, तो उसको भी इसे जवाब देना चाहिए था कि जिस तकदीर ने क्रूर परिस्थितियों में भी मेरी रक्षा की। सुनसान जंगल में मैं पड़ा था। मेरा वहां कौन था? वहां भी जिस तकदीर ने राजा को पहुँचाया और वह यहाँ तक लाया है। जिस तकदीर ने मेरी उस स्थिति में भी सहायता की, तो, अब तो मैं बड़ा हो गया हूँ। पढ़-लिख कर सुसंस्कृत हो गया हूँ। अच्छे राजाओं के अनुरूप शिक्षा पाई है। अब तो मैं अपने जीवन का अधिकारी बन गया हूँ।"

"क्षण-भर के लिए यह मानकर भी कि राजा मुझे निकाल देगा, तब भी मैं अब अपने पुरुषार्थ और शिक्षा के जोर पर नये राज्य का निर्माण कर सकता हूँ। मेरे को इस तरह मांगने की और दीन-भाव दिखाने की क्या जरूरत है? ये विचार यह लड़का नहीं ला सका है अपने मन में। इस युवक के मन में जो महान् भावना, जो तेजस्विता और विशाल विचार आने चाहिए थे, वे नहीं आ पाये हैं। अपनी भावना को, अपने लक्ष्य को छोटा बनाने की इसकी वृत्ति है।"

इस कारण से राजा ने कहा तथास्तु—बहुत अच्छा। दे दिया जाएगा, जो मांगा है तूने।

वह तो मिल गया। पर, जो विशाल साम्राज्य उसे मिलने वाला था, वह हाथ से निकल गया।

यह एक छोटा-सा उदाहरण मैंने आपके सामने रखा है। इसका आशय केवल इतना ही है कि जो मनुष्य, जो समाज, जो राष्ट्र, जो धर्म या परम्परा अथवा सम्प्रदाय और पन्थ अपने जीवन के आदर्श को छोटा बना लेते हैं और अपने इस जीवन के क्षेत्र मे विशाल दृष्टिकोण नहीं रखते है, अपने सिद्धान्तों पर और अपने आदर्शों पर और उनकी विशालता और बुलन्दी पर जब कभी विचार करे, तो सोचे कि हम से तो इतना नहीं हो रहा है, इतना आचरण, चिन्तन और मनन हमसे नहीं निभ सकता, नहीं हो सकता, इसलिए जीवन के आदर्श को ही छोटा बना लिया जाय, जीवन के आदर्शों को ही तोड मरोड कर, घुमा-फिरा कर उनकी गरदन दबोच दी जाय और अपने ही सामने अपने विशाल सिद्धान्तों को बौना बनाते चले जाये, तो समझना चाहिए कि जीवन का विकास ठीक ढग से नहीं हो रहा है। उस परिवार का उस समाज का और उस राष्ट्र और धर्म अथवा सम्प्रदाय और पन्थ का किसी का विकास ठीक ढग से नहीं हो रहा है और न हो सकेगा।

मै कह रहा था कि अहिंसा का आदर्श तो विराट् ही होना चाहिए। धर्म की चोटी तो हिमालय के समान ऊँची ही होनी चाहिए और जब आप हिमालय के सामने खडे हो, तो क्यो

कि उस हिमालय की चोटी पर आप चढ़ नहीं सकते, इसलिए हिमालय की चोटी और खुद हिमालय ही छोटा हो जाय, जरा-सा हो जाय, उसकी चोटिया आसपास की छोटी-मोटी रेत की टेकडियाँ बन जायँ, तो जिस प्रकार यह सब नहीं हो सकता, न सम्भव ही है कि वे हिमालय की चोटियाँ टेकडिया बन जाएँ और आप उन पर चढ़ जाएँ। यह आपका संकल्प कभी कामयाब नही होगा।

आप तो संकल्प करिये कि हिमालय तो हिमालय बना रहे। हम ही महान् यात्री बन जाएँ। हम जीवन के महान् यात्री बन कर, और भावनाओ के एक विशाल प्रवाह को लेकर आगे आए हैं। इसलिए हमारी दृष्टि तो अवश्य हिमालय की चोटी पर ही रहेगी, कदम भले ही तलहटी मे रहे। पर, ये कदम भी चलते-चलते एक दिन हमे हिमालय की चोटी से भी ऊपर पहुँचा देगे, अगर हमारा निश्चय प्रबल है तो। हमारे विचारो का प्रवाह इन कदमों को स्फूर्ति और जीवन देते रहे, तो इस तरह जीवन का कल्याण हो सकेगा। आप अपने स्वार्थों के दृष्टिकोण को भुला दें। आपकी जो समझ है, उसके अनुसार आप इन बातो पर निष्पक्ष रूप से चिन्तन करें और मनन करें। विशाल दृष्टि-कोण मे ही जीवन की विशालता और उज्ज्वलता निहित है।

# जीवन का बादशाह

हमारा यह जीवन आत्मा के केन्द्र पर टिका हुआ है। अगर आत्मा है, तो जीवन है और यदि आत्मा नहीं है, तो जीवन भी नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर जिन्दा नहीं रहता है, आत्मा जिन्दा रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि हृदय जीवित नहीं रहता है, आत्मा जीवित रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि मन, बुद्धि, अहंकार जो-कुछ भी ये हैं, वे सब अपने-आप में जीवित नहीं रहते हैं, परन्तु आत्मा जीवित रहती है, तो ये जीवित रहते हैं।

इस दृष्टिकोण से, अगर हम सही रूप में विचार करें, तो ज्ञात होगा कि यह आत्मा एक प्रकाशवान सूर्य के समान है और इसी का प्रकाश इस शरीर में, इन इन्द्रियों में और मन पर पड रहा है और दूसरे जो तत्त्व हैं, उन पर भी पड रहा है।

तो, हमें यह ठीक तौर पर विचार कर लेना चाहिए कि वह आत्मा अपनी शुद्ध स्थिति में भी है या नहीं? वह ठीक रूप में, अपने-आप में प्रकाशमान है कि नहीं? अथवा उसके ऊपर कोई आवरण आया हुआ है?

जब आत्मा अपने प्रकाश में रहती है और शुद्ध स्थिति में रहती है, उस समय आत्मा में ज्ञान की ज्योति जलती है,

सच्चा शुद्ध स्वरूप अन्दर से जागृत होता है। दया, करुणा, क्षमा का प्रकाश उसमें से फूटता है और सारा जीवन जगमग-जगमग करने लगता है। और, जब यह जीवन जगमगाहट करता है, तो ऐसी आत्मा जिस परिवार मे रहती है, वह परिवार भी जगमगाता है, उसके आस-पास का समाज भी जगमगाता है, उसके चारो तरफ का वातावरण भी एक प्रकार के अलौकिक प्रकाश से चमकने लगता है।

लेकिन, जब कभी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप मे नही रहती है, आवरण से घिर जाती है और वह आवरण चाहे मिथ्यात्व का हो, चाहे अविरति का हो, चाहे असयम का हो, चाहे प्रमाद का हो, चाहे कषाय का हो, चाहे योग का हो, किसी भी भाव का हो ; जैनशास्त्रो की परिभाषा मे इन सभी शब्दावलियो का प्रयोग किया गया है। सक्षेप मे, अगर आप इनको समझ गये तो इसका अर्थ यह है कि जब तक विश्वास, सच्चा विश्वास नही होता है, जब तक श्रद्धा सच्ची और जीवित नही होती है, तब तक मनुष्य मिथ्या विश्वासो मे फसा रहता है, मिथ्या सकल्पों से घिरा रहता है। और, ये मिथ्या सकल्प अपने जीवन के सम्बन्ध में भी होते है, पारिवारिक प्रथाओं के सम्बन्ध मे भी होते है, समाज और राष्ट्र के सम्बन्ध मे भी मिथ्या विश्वास होते हैं। अपने जीवन की यात्रा मे इन्हें वे साधु और गृहस्थ धर्म कहते है।

आत्मा क्या है? इस सम्बन्ध मे हजारों मिथ्या विश्वास हैं। परमात्मा और मोक्ष क्या है? इस विषय मे भी हजारों मिथ्या विश्वास हैं। इस प्रकार से जीवन जब मिथ्या विश्वासों

से घिर जाता है, तो अपने सही स्वरूप को पहचान नहीं पाता; अपने शुद्ध स्वरूप की स्थिति को नहीं समझ पाता।

इस प्रकार, जब कभी आत्मा असयम-भाव मे रहती है, अपने जीवन को लगाम नहीं लगाती, अपने जीवन पर नियन्त्रण नहीं करती, तो वह आज्ञा से बाहर फिरता है। हृदय है, तो वह भी आज्ञा से बाहर चलता है, मन है, तो वह भी हुकूमत मे नहीं रहता। हमारी बुद्धि और चेतना शक्ति भी हमारी आज्ञा से बाहर निकलती है और बात-बात मे हमारा अपमान करना शुरू कर देती है। ऐसा मालूम होता है, जैसे जीवन मे अराजकता छा गई है। जिसके मन मे जो आता है, करता है।

जिस घर का मालिक घर के अन्दर बडा बनाकर तो बैठा दिया जाए, लेकिन वह आज्ञा दे या अपना कोई विचार किसी के सामने रक्खे, तो जो भाई है, वह उसकी बात मानने को तैयार न हो। पुत्र है, तो वह भी बात मानने को तैयार न हो। इस प्रकार से पत्नी भी उसकी आज्ञा को स्वीकार न करे और जो बडे हैं, बूढे हैं, वे भी मजाक उडाने को तैयार हो, तो उसका घर मे स्वामी बनकर रहने का कुछ अर्थ है? उसके कोरे बडप्पन का कोई मूल्य है? जो बडप्पन के सिंहासन पर बिठा दिया गया है, वहाँ पर उस बडप्पन के सिंहासन पर बैठने का कुछ आनन्द है उसके पास? कुछ नहीं।

इसी तरह से समाज मे किसी को नायक, चौधरी या पच बनाकर बिठा दिया जाय; पर अपने-आप मे कोई उसका सकल्प नहीं और समाज मे या राष्ट्र मे भी वह अपनी प्रेरणा

से कोई गहरा सकल्प जागृत नहीं कर सकता और चारों ओर उसकी आज्ञा की अवहेलना होती रहे, तो जैसे वह विचारा अन्दर-अन्दर जलता और कुढता है, उसका जीवन सडता है और अपने ठीक प्रकाश को प्राप्त नही कर सकता है, तो यही स्थिति, जो कुछ भी आप देख रहे हैं, आत्मा के अन्दर भी है।

मैं समझता हूँ हजारो साधक ऐसे भी है, जिनसे बाते करते है, तो कहते है साहब, भजन तो करते है, पर मन नहीं लगता है। कुछ लोग कहते हैं हम तो करना चाहते है, पर शरीर उसके अनुसार चलता नही है। कुछ लोग इन्द्रियो की शिकायत लेकर आते हैं। कहते है कान हमारे वश मे नहीं रहते है, नाक हमारी वश मे नही रहती है। करे क्या ? दिल नहीं मानता है।

बडी मुसीबत है कि आप तो चाहते हैं कि ये सब आपके नियन्त्रण में रहे; लेकिन फिर भी शरीर आपकी आज्ञा नहीं मानता है, हृदय आपकी आज्ञा नही मानता है, मन आपकी आज्ञा मे चलता नही है, तो मै समझता हूँ कि साधको के लिए ये रोने के दिन आ गये हैं। और ऐसी स्थिति मे, जीवन मे जिन्दा किस कीमत पर रह रहे हैं ? किस मूल्य पर जिन्दा रह रहे हैं ? वह कौन-सी आशा का केन्द्र है, जिसके द्वारा आप आनन्द से इस जीवन मे रहना चाहते हैं ?

यह तो वही स्थिति हुई कि एक भिखारी था। हाथ मे टूटा-फूटा ठीकरा लेकर मागता फिरता था। पर एक दिन ऐसा योग बैठा कि वह राजा बन गया। किसी एक राजा की मृत्यु होने पर वह वहाँ का राजा बना दिया गया।

अब भिखारी राजा तो बन गया, सिंहासन भी सोने का मिल गया और रत्न-जटित मुकुट भी सिर पर धारण करने को मिल गया, छत्र-चवर भी डुलने लग गये। लोगों की जयजयकार भी होने लगी। लेकिन, स्थिति यह रही कि वह भिखारी तब भी अपनी भिखारी की मनोवृत्ति को समाप्त नहीं कर सका।

तो, भिखारी राजा बन गया, तो क्या हुआ? जब तक भिखारी की मनोवृत्ति न टूटे और वह नहीं समाप्त हो, तब तक राजा बनने का आनन्द प्राप्त नहीं होता है दरअसल।

भिखारी राजा बन गया। दरबार लगा, जो वह आकर वहाँ सिंहासन पर बैठ गया।

अब आया प्रधानमन्त्री। जब प्रधानमन्त्री आता है, तो विचारा भिखारी अन्दर-ही-अन्दर विचार करता है कि यह कहीं मुझे कुछ कह न दे। पर, प्रधानमन्त्री अपना काम करता रहता है, भिखारी के मन मे भी आता है कि किसी मामले में यह मेरी सलाह ले, परामर्श ले मेरे से। किसी मामले में कुछ थोड़ी बात उसकी समझ में आ जाती है, तो जब हिम्मत बाँध कर कभी कुछ कहता भी है, तो हँसता है प्रधानमन्त्री और उस भिखारी राजा से कहता है आप बैठे रहें, आपको कुछ किसी बात का पता-वता तो है नहीं। आप तो देखते रहें। हम सब ठीक कर लेंगे।

जब सेनापति आता है राजा के सामने शस्त्रास्त्रों से लैस होकर और दैत्य-का-दैत्य जब सामने आकर खड़ा है, भिखारी का मन कांपने लगता है कि कहे

न दे ! क्योंकि, भिखारी का जीवन तो अब तक तिरस्कार और गालियों का जीवन रहा था। जिधर भी गया, उधर उसे गालियां ही मिली थीं। कभी कोई सम्मान तो मिला ही नहीं था जीवन में। उसे तो अपमान ही मिला था और वही अपमान की पुरानी कहानी उसे याद आती है। अब भिखारी बिचारा छटपटाकर और अपना दिल मसोस कर रह जाता है, कुछ कहते नहीं बनता।

इसी प्रकार उसके सामने सेठ और साहूकार आते हैं, इधर-उधर प्रजा-जन आते हैं। वे सब भिखारी को देखते हैं और हंसते हैं। उसकी खिल्लियां उडाते हैं, मजाक करते हैं। और, बिचारा भिखारी अन्दर-ही-अन्दर सोचता है कि मेरी खिल्लियाँ उड़ाई जा रही हैं !

इतना ही नहीं, बल्कि एक झाड़ू देने वाला भी और साधारण पहरेदार, पहरा देने वाला चपरासी भी जब भिखारी के पास से निकलता है या भिखारी उनके पास से होकर निकलता है, तो वे भी कोई उसका सम्मान नहीं करते हैं और वह बिचारा यह देखकर अन्दर-ही-अन्दर कुढ़ता है।

मैं पूछूं आपसे कि भिखारी राजा तो बन गया और सोने के सिंहासन पर भी बैठ गया, पर उस पर बैठने का आनन्द है उसको कुछ ? उसे राजा बनने का आनन्द है ? नहीं है। वह तो अन्दर में कुढता है, जलता है और अपमान अनुभव करता है।

ऐसी स्थिति में, अगर किसी को राजा बनने के लिए कहा जाए और यह कहा जाए कि तुम्हें सोने के सिंहासन पर बिठा

तो दिया जाएगा, पर तुम्हारी एक भी बात कोई स्वीकार नहीं करेगा और वहां सब हंसी, खिलवाड और मजाक उड़ाएंगे, तो इतनी परिषद् यहां बैठी है, अगर आपको ऐसा मौका मिले, तो आप राजा बनना पसन्द करेंगे कि नहीं करेंगे ?

मैं समझता हूँ कि जीवन को सोने के सिंहासन से नहीं तोला जाता। इस जीवन की शान को सोना-चांदी से नहीं आंका जा सकता। जिन्दगी का तो कुछ और ही मतलब है। इसकी शान कहीं सोने से ऊपर रहती है, चांदी से ऊपर रहती है, सोने के सिंहासनों और महलों से इसकी शान कहीं ऊपर रहती है। जब तक वह जीवन की शान प्राप्त नहीं है, तब तक कोई बुद्धू ही होगा, जो ऐसा सौदा नक्की कर लेगा। तुम्हें कोई चाहे हजार-हजार बार सोने के सिंहासन पर बैठा दे, पर कोई समझदार आदमी यह नहीं चाहेगा। क्योंकि, इसका कोई अर्थ नहीं है इस जीवन में।

यही बात इस जीवन के सम्बन्ध में भी है। आपको इस जीवन का राजा तो बना दिया गया है। आप अपने इस जीवन के बादशाह तो बन गये हैं। आत्मा चूँकि सम्राट् है, बादशाह है और इस सारे साम्राज्य का अधिष्ठाता है, मालिक है। लेकिन, वही राजा साहब, वही बादशाह सलामत, अगर यह शिकायत करते हैं कि शरीर हमारी आज्ञा में नहीं चलता है, हृदय हमारी बात, हमारा कहना नहीं मानता है, मन, बुद्धि और सभी चेतनाएं इधर-उधर दगा करती हैं। क्या करें ? भजन करें, तो मन नहीं लगता है। अध्ययन, मनन, जप, तप या अमुक सत्कर्म करते हैं, तो मन नहीं लगता है।

अब यह क्या बात हो गई ? मन आपका मन्त्री है, शरीर आपका आज्ञाकारी सेवक है या आप शरीर के सेवक है ? मन आपका मन्त्री है कि आप मन के मन्त्री है ? हृदय आपका दास है कि आप स्वय हृदय के दास है ? आखिर, कुछ फैसला तो करना ही पड़ेगा आपको ?

हम विचार करते हैं कि जो अपने-आपको भूल जाता है, उसे दुनिया भी भूल जाती है। दुनिया कुछ समझती नहीं उसे। लोग कहते हैं समझते नहीं, मैं कौन हूँ ? पर, मैं कहता हूँ कि दुनिया तो तब समझे, जब आप अपने-आपको खुद समझे। जो अपने-आपको समझता है, दुनिया उसको समझती है। अगर आप अपने-आपको कुछ नहीं समझते है, तो दुनिया भी आपको कुछ नही समझती है।

तो, सबसे पहला प्रश्न हरेक आदमी के सामने यह आकर खड़ा होता है कि क्या आप समझे है कि आप क्या हैं ?

अभी-आपके सामने ग्रहण के सम्बन्ध मे बात चल रही थी। जैसे चन्द्र को ग्रहण लगता है और सूर्य को ग्रहण लगता है, उसी तरह से आपके जीवन के आकाश मे ठीक सूर्य की तरह से या चन्द्र की तरह से जो आत्मा चमक रही है आपकी, तो कहीं उसे तो ग्रहण नही लग गया है ? और जब ग्रहण लग जाता है, तो आफत-वरपा हो जाती है। रोशनी गुल हो जाती है। प्रकाश नही रहता है और चाँद जो चमक दे रहा था, उसका भी प्रकाश फीका पड जाता है।

इस तरह के बाहर के आकाश मे भी जब चन्द्र और सूर्य को ग्रहण लग जाता है, तो हजारो मील दूर-दूर तक सारे लोग,

सारी दुनिया व्याकुल हो जाती है। उस प्रकाश के अभाव में आप घर में बैठे हुए भी व्याकुल हो जाते हैं। उसके लिए जप करते हैं, तप करते हैं, दान देते हैं, धर्म-कर्म करते हैं, पुण्य-कार्य करते हैं। और, ज्योतिषी को पूछते हैं कि यह ग्रहण मेरे को कैसा रहेगा? यह जो ग्रहण आया है, मेरे परिवार के लिए कैसा रहेगा और समाज के लिए तथा राष्ट्र के लिए भी कैसा रहेगा? राष्ट्र के महान नेताओं के लिए कैसा रहेगा? उन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इस तरह से नेहरूजी की जन्म-कुण्डली देखने लग जाते हैं। और, जब कभी बाह्याकाश से ऐसी स्थिति आ जाती है, तो भारतवर्ष की जन्मकुण्डली भी देखने लग जाते हैं। दुनिया-भर के हिसाब-किताब देखे जाते हैं और हजारों तरह का दान-पुण्य सभी कुछ किया जाता है।

लेकिन, इस जिन्दगी को जब ग्रहण लगता है, तो इसकी फिक्र कोई नहीं करता। इसके लिए ज्योतिषीजी से नहीं पूछते कि क्या हो रहा है और क्या स्थिति है जीवन की? और, ऐसी स्थिति में, हमारे पर टिके हुए इस परिवार का भविष्य कैसा रहेगा? हमारे राष्ट्र का भविष्य क्या होगा? धर्म का या हमारे पन्थ का भविष्य कैसा रहेगा? इसके सम्बन्ध में आप जानकारी प्राप्त नहीं करते।

इस प्रकार से इस आत्मा को जो ग्रहण लग रहा है अनादि काल से, इस सम्बन्ध में आप यह विचार नहीं करते हैं कि इस ग्रहण को दूर करने के लिए क्या करें और क्या नहीं करें? कौन-सा सत्कर्म हमें करना चाहिए? अहिंसा

के मार्ग पर हमे कैसे चलना चाहिए? सत्य, दया और प्रेम के मार्ग पर हमे कैसे चलना चाहिए? इस सम्बन्ध मे कुछ भी सोचा नही जाता।

मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि हमारी नजदीक की बिनाई कमजोर पड गई है। आँख की बिनाई कई तरह की होती है। एक बिनाई होती है दूर की। उससे मनुष्य दूर तक तो बहुत देख लेता है, पर पास की चीज नही देख पाता।

दूसरी होती है पास की बिनाई। पास मे तो बहुत अच्छा देख लेगा; पर दूर की चीज नही देख पाता है। उसकी दूर की नजर कमजोर होती है। दूर की बिनाई वाले को पास मे कुछ देखने और पढने को कहते हैं, तो पास मे पुस्तक पढ नहीं सकेगा, दिखाई नही देगी उसे कोई चीज। कुछ लोगो की बिनाई ऐसी होती है कि वह दूर की वस्तु अच्छी तरह से नहीं देख सकते, पास मे अच्छा दिखाई देता है।

मैं समझता हूँ कि भारतवर्ष की या कि भारतवर्ष के धर्मों की या समाज की वह बिनाई जो है, वह है तो ठीक, पर पास की बिनाई कमजोर है, दूर की अच्छी है।

दूर की बिनाई का मतलब क्या है?

दूर की जो रोशनी है, आँखो की जो शक्ति है, वह दूर की चीज देखने मे काम ज्यादा करती है। जब कभी भक्त-जन बैठेंगे, तो सारी दुनिया का, नरक और स्वर्ग का हिसाब कर जाएँगे। यह पहला नरक है, उसके इतनी नीचे दूसरा नरक है और उसके इतने नीचे तीसरा, चौथा और पाँचवा नरक है

और उसके इतने नीचे छठी और सातवां नरक है। दूर तक पढ जाएँगे ये सिद्धान्त की बातें।

इसी प्रकार स्वर्ग का हिसाब करेंगे, तो बहुत लम्बा-चौडा हिसाब करते चले जाएँगे। पहला स्वर्ग कितने राजू पर है, दूसरा स्वर्ग और इसी तरह से तीसरा, चौथा और यावत् छब्बीसवें स्वर्ग तक की लम्बाई-चौडाई का हिसाब कर देंगे।

इसी तरह से जब आकाश मण्डल में कुछ ये घटनाएँ होती हैं, तो दूर की बिनाई इतनी तेज होती है कि ज्योतिषी लोग लम्बा-चौडा हिसाब लगा डालेंगे वहाँ तक का कि उनका क्या फल होगा ? क्या परिस्थितियाँ किस रूप में बन पड़ेगी ? क्या होगा और क्या नहीं होगा ? यह सब हम मालूम करना चाहते हैं।

पर, दुर्भाग्य है कि हमारी पास की बिनाई इतनी कमजोर है कि हम अपने-आपको नहीं समझ पाते। अपनी स्वय की स्थिति को भी नहीं समझ पाते। अपने छोटे-से परिवार को भी ठीक से नहीं समझ पाते। यह छोटा-मोटा समाज जो हमारे जीवन के चारों तरफ चल रहा है, इस सम्बन्ध में भी हमारी जानकारी सही-सही नहीं होती। जब इनमें से किसी की जानकारी तो आपसे ठीक ठीक हो ही नहीं रही है और दुनिया-भर की जानकारी का ठेका लेते हैं, तो हमी आये बिना नहीं रहती।

एक सज्जन मुझे मिले और प्रश्न पूछने लगे महाराज, लवण समुद्र का जो मच्छ है, उसको कितने ज्ञान है ? प्रश्न फिर दोहरा दू आपके सामने ताकि आप अच्छी तरह समझ

जाएं। लवण समुद्र एक बहुत बड़ा समुद्र है। उसमे जो मच्छ रहते हैं, उनको कितने ज्ञान हैं?

प्रश्न मैंने सुना और हँसकर कहा आपको लवण-समुद्र के मच्छ और मछलियो के लिए विद्यालय खुलवाना है क्या? या आपको उनके लिए कोई छात्र-वृत्ति या स्कॉलर शिप देनी है? क्या करना है आपको इसके सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करके?"

वह हँसने लगा और कहने लगा यो ही।

मैंने कहा यो ही का क्या मतलब?

'यो ही' का तो यह मतलब हुआ कि आपका कोई उद्देश्य नही है, कोई लक्ष्य नही है। केवल 'यो ही' का मतलब हुआ कि आप अपना समय भी खराब करते हैं और दूसरे का भी। यह जो 'यो ही' है, वह कोई अर्थ नही रखती है जीवन के अन्दर। यो ही आ गये भटकते-भटकते और मारने लगे गप्पे। घंटा खराब कर दिया, दो घंटे खराब कर दिये। जब पूछा कि किस काम से आए आप, तो कहा यो ही आ गये घूमते-घूमते! ऐसे ही आप भटक रहे है। क्या मतलब है आपके इस जीवन का?

इस 'यो ही' का अर्थ तो यह हुआ कि हम जीवन को तो लेकर चल रहे हैं, पर उसके साथ कोई महत्त्वपूर्ण प्रकाश लेकर नहीं चल रहे हैं। हम जीवन के सामने कोई ठीक नक्शा बनाकर नही चल रहे हैं, कोई ठीक उद्देश्य सामने रखकर नहीं चल रहे हैं, कोई स्पष्ट लक्ष्य सामने रखकर नहीं चल रहे हैं।

हम तो जीवन के ऐसे सेनापति हैं कि लड़ाई तो लड़ रहे हैं, पर बिना नक्शा बनाये लड़ रहे हैं। कहाँ, किस मोर्चे पर कितनी ताकत लगानी है, किस दिशा में कितना दबाव डालना है, कहाँ कितनी सामग्री जुटानी है, किस दिशा में कितनी कुमुक पहुँचानी है, हमें इस बगल में कितना चलना है, यह बगल किस तरफ बदलनी है और वह किस तरफ? इन बातों की कोई साफ तसवीर हमारी आँखों के सामने नहीं होती। मतलब यह है कि लड़ने वाले तो सिपाही लड़ते रहते हैं, पर सेनापति का काम मुख्य रूप से युद्ध का नक्शा तैयार करना है। उस नक्शे के अनुसार अगर लड़ाई होती है, तो वह ठीक तरह से होती है। सेनापति अपनी लड़ाई में सफलता प्राप्त करता है और अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है।

लेकिन, हमारी जिन्दगी की लड़ाई बड़ी विचित्र है। वह लड़ाई यह है कि हम लड़ाई जीवन में लड़ तो रहे हैं, संघर्ष कर तो रहे हैं, जब चार पाँच वर्ष के थे, तभी से कर रहे हैं। और, मुख्य रूप से तो इससे पहले से ही यह जीवन की लड़ाई प्रारम्भ हो जाती है। अन्तर इतना ही है कि वह अप्रत्यक्ष रहती है। तब से लेकर अब तक जीवन में लड़ाई लड़ते-लड़ते पचास-साठ और सौ बरस की जिन्दगियाँ पूरी करने को आये हैं और जब पूछा जाता है कि क्या किया आपने इस जीवन-युद्ध के क्षेत्र में इतने बरसों तक, तो कहें कि 'यों ही।' तो इस 'यों ही' का क्या मतलब हुआ? इसका अर्थ यही हुआ कि हम जीवन का नक्शा बनाकर ठीक ढंग से लड़ाई लड़ नहीं सके हैं। ऐसे ही चलते रहे हैं लापरवाही से।

तो, मूल प्रश्न यह था कि हमारे यहाँ कभी-कभी दूर के प्रश्न ऐसे आ जाते है कि वे कुछ अटपटे-से मालूम पडते हैं। लवण समुद्र के मच्छ की ओर तो आप का ध्यान जाता है कि उसको कितने ज्ञान हैं? इसकी फिक्र तो करते हैं आप। पर, अपने लडके को कितने ज्ञान हैं, इसकी फिक नहीं करते। अपनी लडकियो को कितना ज्ञान है, इसकी चिन्ता नही करते। लवण-समुद्र के या और समुद्र के मेढको को कितना ज्ञान है, वहाँ के मच्छ को कितना ज्ञान है, उसके ज्ञान की चिन्ता आपको जरूर है। कीड़े-मकोडो के ज्ञान की चिन्ता आपको जरूर है। लेकिन, हमारे परिवार मे, हमारे समाज मे या हमारे राष्ट्र मे या हमारे धार्मिक क्षेत्र मे कितना ज्ञान का रस लोगो को मिला है? वे ठीक रूप मे अपने जीवन को रखने के लिए शक्ति प्राप्त कर रहे हैं या नहीं? जीवन के सघर्षों मे, जीवन के सुख-दु खो मे से जब कभी उन का जीवन गुजरे, तो वे अपने-आप पर काबू पा सके, परिस्थितियो पर काबू पा सके। सुखो पर भी विजय पा सके और दु खो को भी पराजित कर सके, इतनी जीवन की कला उन को प्राप्त हो रही है या नहीं, इसकी कोई चिन्ता नहीं है आपको।

ऐसी स्थिति मे मुझे कहना पडता है कि हमारी बिनाई दूर की तो बहुत अच्छी है, लेकिन पास की बिनाई बडी कमजोर है। हमे चाहिए कि दूर की बिनाई तो हम रखे, उसको घटाने की जरूरत नहीं है, पर पास की बिनाई को भी जरा साफ करे।

आकाश में ग्रहण आया। अभी-अभी प्रात काल एक ग्रहण

चला और इसके साथ ही एक बडा हल्ला मचा—धरम करो धरम करो का।

ठीक है कि धरम कराने वालो ने भी आवाज लगाई और धरम करने वालो ने धरम किया भी होगा थोडा-बहुत इधर-उधर। ऐसी स्थिति मे, कभी तो ऐसा भी युग था कि जब लोग सोना दान मे देते थे, चाँदी का दान करते थे, हाथी-घोडो का भी दान कर देते थे। उस दान का प्रभाव एक अमुक वर्ग पर जरूर पडता था। पर, साधारण जनता को लाभ कम मिलता था।

समय बदला, परिस्थितिया भी बदली और इसके साथ ही दान के स्वरूप ने भी करवट बदली। आज इतने दान की स्थितिया तो लोगो की नही रही, पर कुछ देने की यह पूँछ अब भी पकड रक्खी है लोगो ने। बिचारे साधारण मेहतर हो या कोई और हो, वे धरम करो की आवाज लगाते हैं और इसके बदले मे उनको कुछ खाने-पीने की चीजे अनाज के रूप मे प्राप्त हो जाती हैं।

किसी निमित्त को लेकर कुछ करना तो अच्छा है, पर वह भी अच्छे ढग से, सुन्दर ढग से हो, तो और भी अच्छा है। किसी भी कार्य मे जब आप जुटे, तो मन-मरा हुआ लेकर न चले। किसी भय से या आतक से कोई काम न करे, बल्कि जीवन मे कोई ऐसा प्रसग आए, तो मन मे उल्लास और आनन्द की लहर लेकर आप उस काम को कर गुजरे, तो अच्छा है।

अभी अभी मुझे पूछा गया है कि ग्रहण क्या है?

पौराणिक दृष्टिकोण से और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जब हम इसे देखते है, तो जो पौराणिक स्थिति है, वह यहा और तरह की है और वैज्ञानिको की स्थिति जो है, वह और तरह की है। पौराणिक स्थिति तो यह है कि चन्द्रमा को राहु दैत्य दबाता है। चन्द्रमा पर वह राहु दैत्य दबाव डालता है, उसे तग करता है और चन्द्रमा को राहु के दबाव से छुडाने के लिए लोग दान करते हैं। इसी तरह सूर्य-ग्रहण के वक्त सूर्य पर केतु दबाव डालता है और उस केतु से सूर्य को छुडाने के लिए लोग दान की आवाज लगाते हैं, ताकि उसको केतु से मुक्ति मिले।

दूसरा वैज्ञानिक पक्ष यह है कि सूर्य को कोई दबाव नही पड रहा है, उसकी तो मुक्ति हुई हुई है। चन्द्रमा पर भी कोई दबाव नही पड़ रहा है। वह भी अपनी सही स्थिति मे स्थित है। आज के वैज्ञानिको की दृष्टि मे एक छाया उसके आड मे आ जाती है। उनका कहना है कि ७३०० वर्ष पहले जो पहाड थे, वे छोटे थे। बढते-बढते वे बडे हो गये और क्योकि पृथ्वी घूमती रहती है, इसलिए आज जब वे पहाड पृथ्वी के साथ घूमते-घूमते सूर्य और चन्द्रमा की आड मे आ जाते है, तो उनके उस छाया की आड मे आ जाने को ग्रहण कहते है। पृथ्वी के घूमने की छाया पड जाती है।

क्या पडती है और क्या नही, इस विगत मे हमे नही जाना है। पर, स्थिति तो यह है कि वह भी छाया-मात्र है। सूर्य को कष्ट हो रहा है या चन्द्रमा को कोई कष्ट हो रहा है, ऐसी कोई बात नही है। यह तो एक छाया के द्वारा उसका जो प्रकाश है,

वह इस भूमि पर आ नही रहा है। इस कारण हमारे सामने यह एक महत्त्वपूर्ण बात है।

हाँ, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जैसा कि जैनधर्म भी मानकर चला है, कुछ अर्थ है इसका जरूर। हमारे जीवन मे प्रकाश का बहुत बडा महत्त्व है। सूर्य का प्रकाश और सूर्य की किरणे, जो कि इस भूमडल पर पड रही है, तो उनमे से हर किरण जीवन का स्रोत है। और हर प्रकाश की जो किरण आ रही है आकाश-मण्डल से, वह इस ससार मे मनुष्य, पशु, पक्षियो और दूसरे जितने भी जीवधारी प्राणी है, उन पर और इसी प्रकार से जो खाने-पीने के पदार्थ है, उन पर उसका एक महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड रहा है। ऐसी स्थिति मे, वह एक जीवन का सागर इन किरणो के रूप मे जो उमड कर आ रहा है और हर तत्त्व पर उसका प्रकाश पड रहा है, तो जिस समय सूर्य या चन्द्रमा पर राहु या पहाड की छाया पड जाती है, तो उस हालत मे क्या होता है कि ठीक प्रकाश पडता नही है और उसके अभाव मे वह जो एक जीवन आना चाहिए हर प्राणी के अन्दर, वह नही आ पाता।

इसी प्रकार से भोजन के सम्बन्ध मे भी यही बात है कि ग्रहण के समय भोजन नहा किया जाता। यह बात ठीक है। रात्रि में जैनधर्म मे भोजन नही किया जाता है। क्योकि, उस समय सूर्य का प्रकाश ठीक रूप मे आ नही रहा होता है और ऐसी स्थिति मे जीव-जन्तु के खा लिये जाने का डर भी रहता है। इस तरह जीव-जन्तु और प्रकाश का दृष्टिकोण तो है ही, पर शारीरिक दृष्टिकोण भी इसके पीछे रहा हुआ है। जब

प्रकाश पूरा नही आ रहा है, तो जीवन के अन्दर भी और हृदय का जो प्रकाश है, वह भी, पूरा स्पष्ट खुला हुआ नही होता है। इस कारण से जब भोजन किया जाता है उस अन्धकार के अन्दर, तो वह अन्धकार के अन्दर मे होता है। फलत उसकी पाचन-क्रिया व्यवस्थित रूप मे नही हो पाती है। इसके पीछे शुद्ध मनोवैज्ञानिक आधार भी है और प्रकाश का आधार भी है।

इस दृष्टिकोण से विचार करते हैं, तो जब चन्द्र या सूर्य का ग्रहण लगे, तो भोजन करने बैठना अच्छा नही है, ठीक रूप मे नही है। वह विशुद्ध मनोवैज्ञानिक भोजन नही है। जीवन का यह सिद्धान्त है सबसे बडा कि ठीक प्रकाश मे, जबकि एक महान् प्रकाश हमारे जीवन मे फैल रहा है, उस हालत मे ही भोजन करना ठीक है, अन्यथा नही।

एक बात और। जैनधर्म मे या जैनाचार्यों ने ग्रहण के अवसर पर स्वाध्याय का सुनना या करना मना किया है। और वैदिको ने भी यही माना है।

कुछ गाथाएँ ऐसी है, कुछ पवित्र विचार ऐसे हैं कि ऐसे समय उनका प्रवचन नही किया जाता। ऐसा करने से वाणी अपवित्र हो जाती है या नही, यह बात दूसरी है। लेकिन, एक बात जरूर है ऐसी। और वह यह है कि किसी भी पवित्र ग्रन्थ का मनन और चिन्तन अगर करे, तो सुन्दर वातावरण मे करना चाहिए। जब वातावरण सुन्दर होता है, तो विचारो का प्रकाश ठीक रहता है। और, जब वातावरण सुन्दर नही रहता है, तो विचारो का प्रकाश भी सुन्दर नही रहता है।

ऐसी स्थिति में, कुछ सज्जन जो कुछ बाहर के जगत में चिन्तन और मनन करते हैं और एकान्त में रहकर स्वाध्याय का वाचन और चिन्तन करते हैं, तो उनके लिए वातावरण की अपेक्षा जरूर है।

प्रत्यक्ष में हम देखते हैं कि जब कि आनन्द का वातावरण होता है, तो प्रकृति का वातावरण शुद्ध रहता है, स्थिर और नीरव रहता है। और, जब कि वहाँ अशुद्धि का वातावरण रहता है, तो प्रकृति का वातावरण जो है वह भी सुन्दर नहीं रहता है। सारी प्रकृति जो है, वह एक मनहूस वातावरण में चली जाती है। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय करना, चिन्तन करना और किसी शास्त्र का मनन करना वह केवल उन शास्त्रों के शब्दों को पकड़कर भले ही रह सके पर उनका सार और उनका रस जो है, वह जीवन में नहीं आ पाता है।

मनुष्य के मन की कुछ ऐसी स्थिति है कि बाहर में जरा-सी भी घटना हो तो उसमें वह विचलित हो जाता है। बाहर में ठीक ढंग से अगर सुन्दर वातावरण नहीं रहा है तो उस समय मन झाँकता जाता है और क्षुब्ध हो जाता है। वह ठीक रूप में नहीं रहता है। इसी दृष्टि-कोण से हमारे यहाँ यह कहते हैं कि आसपास में अस्वच्छता हो, तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। आसपास में किसी की मृत्यु हो गई हो, तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

इसका अर्थ दरअसल तो यह है कि ऐसे तो इस शरीर के अन्दर जो कुछ है, वह सभी अस्वच्छ होता है। उसमें विष्ठा भी भरा होता है। लेकिन, बाहर की जो गन्दगी है, वह हमारी

आँखो के सामने रहती है, तो वह हमारे मन पर दूषित प्रभाव डालती रहती है। इसलिए वह हमारा सूक्ष्म चिन्तन और विचारो का प्रवाह ठीक रूप मे काम करता रहे, यह नहीं बन पाता है। हमारी दृष्टि बार-बार उसी चीज पर चली जाती है। ऐसी स्थिति मे यह चाहिए कि हम शुद्ध वातावरण मे, सात्त्विक वातावरण मे जीवन का नया अध्याय शुरू करे।

यही रूप यहाँ है कि आस-पास मे अगर मृत्यु हो गई, तो उस समय वहाँ स्वाध्याय नही करना। उसका कारण यह है कि आसपास मे जो रोने की आवाज आती है, और एक शोक का वातावरण तैयार हो रहा है, उस सूरत मे, हम अगर स्वाध्याय करने बैठते है, तो हम एक प्रकार से जन-जीवन का भी अपमान करते है। एक तरफ तो रोने-धोने का और शोक का वातावरण बना हुआ है और आसपास के लोग उसमे ग्रस्त हैं। उस समय हम स्वाध्याय करे और कोई भी वैदिक वेद-मन्त्र पढना शुरू करे या "धम्मो मगल मुक्किट्ठ" पढना शुरू करे, तो जन-जीवन के साथ, दूसरे साथियो से हमारी सहानुभूति नही रहती है। उस वातावरण से ग्रस्त व्यक्तियो के मन को हम त्रास पहुँचाते है। एक बात।

दूसरी बात। इस शोक और रज के वातावरण मे हम स्वय भी सुन्दर विचार अगर करने बैठे, तो मन पर प्रभाव पडता ही है इस रज और शोक के वातावरण का। ऐसी स्थिति मे हमे स्वाध्याय करने की इजाजत नहीं मिली है।

यही बात इस ग्रहण के सम्बन्ध मे भी है। लेकिन, एक बात जरूर कह रहा था मै आपसे कि मन को ऐसा नत

क्यो बनाया जाए ? आज के इस जीवन को कडवा क्यो बना दिया जाए ? अगर कल कोई ऐसी बात होने वाली है, तो कल की उन मनहूस चिन्ताओं म घूम-घूम कर आज का जो हमारे सामने जीवन है, उसे भी दूषित बना दे, जीवन म जो रस है आज, उसको भी निकल जाने दे, आज की जो आनन्दमय जीवन की धारा है, उसे भी प्राप्त न करे, तो यह सौदा बडा महगा पडता है और कम-से कम जिन्दा रहना चाहने वालो के लिए तो महँगा सौदा यह है ही। मरने वालो के लिए तो बात दूसरी है !

मै स्पष्ट रूप से बात कर रहा था आपसे। जिन्दगी को हमेशा कर्तव्य की राह पर चलाना चाहिए और हमारा अपना काम इतना ही है। मनुष्य को सोचना चाहिए कि मैंने अपना काम किया है, और जग ने अपना किया है। मैंने अपना पार्ट अदा किया है और ससार ने अपना पार्ट अदा किया है। इस तरह जीवन के जो क्षण है, उन्हे अपने आनन्द की धारा मे बहाना चाहिए।

मुझ से बहुत से सज्जन कहते है महाराज, ज्योतिष की बाते तो ठीक है। मैं नहीं कहता कि वे ठीक नहीं होती है। कुछ सही भी होती है। पर, वह जो कुछ सही होती है, उनके पीछे जीवन को अभद्र क्यो बना दिया जाए ? इस अभद्रता के बड़े भयकर परिणाम भुगतने पड़े है भारत को कभी-कभी।

पुराने वक्त में एक बात आ गई थी कि अमुक के एक कन्या हो गई। इधर-उधर से कुछ लोग ज्योतिषी को लेकर आ गये। उस ज्योतिषी ने ज्योतिष-विज्ञान के आधार पर कहा कि यह तो

विष-कन्या है। बस हो गया एक तूफान खड़ा! अब सारे घर वाले रो रहे हैं।

पति पत्नी का बहुत सुन्दर रूप में विवाह होता है। पर, किसी ने दोनों में से एक के कोई मस्सा देख लिया, एक तिल देख लिया, और यह कह दिया कि यह तो तेरे लिए घातक है या वह उसके लिए घातक है। तो बस साहब, सारा जीवन ही कडवा बन गया।

इसका परिणाम कभी-कभी ऐसा आता है और ऐसी-ऐसी दुर्घटनाएँ हमारे देखने और सुनने में आती हैं कि जो मानवता को भी कलंकित कर देती हैं। उस स्थिति में, वह ज्ञान वरदान न होकर मानव के लिए एक अभिशाप बन जाता है। यह ज्ञान है तो बहुत ऊँचा, पर छिछले स्तर पर और जिन उथले भावों में इसका उपयोग कर रहे हैं, वह बहुत ही खराब है। यह ज्ञान उसी को होना चाहिए जो कि शिव-शंकर हो। जो शिवशंकर की तरह से हो। जो जहर भी मिले, तो उसे भी पी जाए और अमृत भी मिले, तो उसमें भी इन्कार न करे। जहर या अमृत जो मिले, वह सब पी जाए।

पर, साधारण लोग जब इन चीजों के चक्कर में पड जाते हैं, तो उनको अपने पर, अपने मन पर या अपनी जबान पर काबू नहीं रहता है। उनके विचारों में उथल-पुथल मच जाती है। उनके जीवन में एक ऐसा ऊट-पटांग सा वातावरण आ जाता है कि वह उनकी हत्या कर देता है और उनका सारा जीवन ही गडबडाने लगता है।

एक सज्जन मिले। उनका चेहरा बडा उदास था। ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कुछ गडबड हो रही है उनके जीवन में।

पूछा, तो मालूम हुआ कि उनके लडका हुआ है, पर उस लडके के होने का जो आनन्द होना चाहिए था, जो प्रफुल्लता होनी चाहिए थी, वह नहीं थी। पिता भी चिन्तित, मित्र भी चिन्तित और परिवार वाले भी चिन्तित। सभी चिन्ता-ग्रस्त थे घर मे।

पिता ने सारी बात सुनाई और कहा महाराज, क्या बताऊँ ? पुत्र तो हुआ और खुशी की यह बात भी जरूर है, पर ज्योतिषी ने कह दिया है कि इसकी मृत्यु के प्रति सावधान रहना चाहिए। उसके ग्रह ऐसे हैं, जिनके कारण उसके जीवन का सोलहवाँ वर्ष बडा खतरनाक है और उस साल मे वह बचेगा या मरेगा, यह बड़ा विकट सवाल है।

मैंने कहा अभी तो सोलह वर्ष बाकी पड़े हैं ? यह चिन्ता अभी से क्यों ?

मेरे मन मे आया कि वह ज्योतिषी अगर यह बात जानता भी हो, तब भी उसको अपने विचार जनता के सामने अच्छी तरह से रखना नही आता। सिद्धान्तों मे जानने के लिए तो बहुत-कुछ है, पर कहने के लिए आपको सब-कुछ नहीं है।

हम लोगों के लिए सिद्धान्त एक बात कहता है कि जानने के लिए तो सब जानो। विश्व का ज्ञान तुम्हारे लिए है, उसे जानो-पहिचानो। उसे तुम ले सकते हो, प्राप्त कर सकते हो, इसकी ना नही है। लेकिन, जो कुछ भी जाना जा रहा है या जिस किसी के सम्बन्ध मे भी जो-कुछ मालूम किया जा रहा है, वह सब-कुछ कहने के लिए नहीं है।

उस ज्योतिषी ने कहने के लिए वह अपने ज्ञान की बात कह तो दी, पर मेरे मन मे आया कि अब ये बिचारे भोले भाई

उस लडके का पालन-पोषण तो करेंगे, उसको शिक्षण भी देंगे, उसको सिखाएँगे भी और पढाएँगे भी। जो कुछ भी उन्हें करना है, वह सब-कुछ करेंगे। पर, उसकी सोलहवें वर्ष में मृत्यु की जो बात है, वह बराबर चक्कर काटती रहेगी उनके दिमाग में। ऐसी हालत में वह सोलह वर्ष तक का जो उसे खिलाने-पिलाने का, पालन-पोषण करने का पिता का नैसर्गिक, कुदरती आनन्द था, सोलह वर्ष तक जो उस पिता को कर्तव्य पालन के आनन्द का रस जीवन में आना चाहिए था, वह सारा रस समाप्त कर दिया उस सोलहवें वर्ष में घात की बात ने। इस सारे परिश्रम और कर्तव्य पालन का कुछ भी मूल्य नहीं रह गया है उसके जीवन में।

इसी तरह उस बालक की माता के बारे में है। वह बिचारी उसे गोद में भी लेगी, खिलाएगी, दूध भी पिलाएगी। उसका पूरी तरह से, अच्छी तरह से लालन पालन भी करेगी। सभी कुछ करेगी, पर ज्यों ही उसे ध्यान आएगा कि सोलहवे वर्ष में यह मेरे से विदा हो जाएगा, तो उसका मन विषाद से भर जाएगा। पुत्र के स्नेह की धारा का जो आनन्द उसके जीवन में आने वाला था, वह आनन्द की धारा सूख जाएगी उसकी।

इसी रूप में आकाश-मण्डल में कोई ग्रहण अगर आ रहा है या कि कोई और चीज उस आकाश के अन्दर हो रही है, तो उसके सम्बन्ध में यह बात जरूर है कि उसका प्रकृति पर प्रभाव तो पडता है, पर उसके सम्बन्ध में निरन्तर इस खयाल में रहना, निरन्तर यह मालूम करते रहना कि क्या है और क्या नहीं है, यह जीवन को निकम्मा बना देने वाली बात है।

जैन धर्म ने इस सम्बन्ध में इन्कार किया है। और, स्पष्ट रूप में कहा है कि ये सब चीजे वर्जनीय हैं।

प्रकृति के द्वारा आकाश मे जो बाते होती हैं, अव्वल तो हम लोग उनका सही मूल्यांकन कर नहीं सकते, उनका ठीक-ठीक रूप, स्पष्ट रूप हम ले नहीं सकते। अगर सौ बाते हम सोचते है, तो उनमे से कभी-कभी दस बाते ऐसी होती है, जो सही निकलती हैं और बहुत-सी बाते गलत निकल जाती हैं। लेकिन, दो-चार, पाँच-सात जो सही होती हैं, उनका रस उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहता, जितना कि उन बातो का, जो कि गलत निकल गई हैं। उनको अगर हम बता दे, उनका निरूपण कर दे, तो एक बुरा प्रभाव जीवन पर पड़ता है।

इस स्थिति में, भगवान् महावीर ने इन सब बातो को पाप-सूत्र कहा है। बात तो बडी कड़वी है और इस शब्द के अन्दर आपको ऐसा मालूम पड़ेगा जैसे कि एक बहुत भयकर और विद्रोह की चीज उनके मन मे गरज रही है और इसीलिए उन्होंने इतनी कड़वी भाषा का प्रयोग किया इसके पीछे।

लेकिन, भगवान् महावीर ने जितनी कडवी भाषा का प्रयोग किया, उससे भी अधिक कडवी भाषा की जरूरत थी इसके लिए। जनता के मानस मे कुछ ऐसी दुर्भावनाएँ घर कर रही थी, कुछ ऐसी चिन्ताएँ घूम रही थी, जिससे अपने जीवन के सम्बन्ध में, परिवार के जीवन के सम्बन्ध मे, समाज के जीवन के सम्बन्ध में, राष्ट्र के जीवन के सम्बन्ध मे वर्तमान के रसमय जीवन को ध्यान मे न रखकर लोग इधर-उधर भटक रहे थे।

इसलिए उन्हें सही मार्ग पर लाने के लिए इतनी कड़वी भाषा का जो प्रयोग किया है, वह सही रूप में ही किया है।

मेरा कहने का आशय यह है कि थोड़ा-बहुत यह जो जीवन का व्यवहार है, उसे चलाइए। संसार में हम जिन्दा रहना चाहते हैं और वह जिन्दा भी एक इन्सान के ढंग पर रहना चाहते हैं, एक सुन्दर, शान्तिपूर्ण जीवन में खुद रहना चाहते हैं, तो इस जीवन के लिए यह आवश्यक है कि जो थोड़ी-बहुत चीज जीवन में चल रही है, उसका समय-समय पर उपयोग होता रहता है, तो बात दूसरी है। पर, मन को इन ग्रहण, ज्योतिष आदि के खटराग से ज्यादा नहीं बाँधना चाहिए। शनि और मंगल से नहीं बाँधना चाहिए। हर क्षण में, हर बात में, हर परिस्थिति में उन सब चीजों पर जो कि आकाश-मण्डल के ऊपर हो रही हैं या ग्रहों के रूप में चल रही हैं, उनके लिए हर जगह मत्था टेकना, हाथ जोड़कर खड़े हो जाना, हर जगह एक अशान्ति का वातावरण बना लेना, हर जगह जीवन को अशान्त बना लेना, यह जीवन के आवश्यक तत्त्व नहीं हैं। ये जीवन के तत्त्व को सुखाने वाली बातें हैं। ये चीजें जीवन के तत्त्व को और जीवन के रस को सुखा देती हैं।

इसलिए भगवान महावीर का सिद्धान्त यह है कि आकाश-मण्डल बेचारा क्या करेगा? उसकी चिन्ता में क्यों घुले जा रहे हो? सबसे पहले यह देखो कि कहीं तुम्हें तो ग्रहण नहीं लग रहा है जीवन में? अगर वह ग्रहण तुम्हारे जीवन में लगा हुआ है, तो तुम पर असर करेगा और अगर तुम्हारे ग्रहण नहीं लगा है, तो कुछ असर नहीं होगा।

तो, मूल क्या है ? इस आत्मा को, अपने जीवन को, क्रोध के आवरण से साफ करना चाहिए। मान के साँपो से मुक्त करना चाहिए। माया की छाया से बचाना चाहिए। लोभ के काटो से बच कर चलना चाहिए। इस जीवन का जो शुद्ध प्रकाश है, वह उस क्षमा, दया, करुणा, निर्लोभता, विनम्रता आदि मे रहा हुआ है, उस प्रकाश का जीवन मे पैदा करना चाहिए। जब यह प्रकाश पैदा हो जाएगा आपके जीवन मे और जब कि क्षमा का, नम्रता का, निस्पृहता का, निर्लोभता का, दया और करुणा का शान्त और शुद्ध प्रकाश जीवन मे जगमगाएगा, तो इस सारे ससार मे, जहाँ तक तुम्हारी शक्ति है, जहाँ तक तुम्हारे प्रकाश की ताकत है, वहां तक तुम्हे कोई दुःख नही होगा। छल, प्रपञ्च, द्वन्द्व, संघर्ष कुछ नही होगा जीवन मे उससे।

आज के इस ग्रहण की बात के प्रसग पर मुझे एक ही साधारण-सी बात कहनी है कि तुम खुद आनन्द मे रहो और दूसरो को भी आनन्द में रक्खो। खुद जिन्दा रहो और दूसरो को भी जिन्दा रहने दो। आपको खुश रहना है, तो स्वय भी खुश रहो। खुश रहो, खुश रक्खो। जीओ और जिलाओ। इसी में मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। यह नया ज्ञान का प्रकाश जीवन मे आ गया, तो एक दिन हजारो सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश तुम्हारे जीवन में भी चमक उठेगा।

# अनासक्ति योग

मनुष्य-जीवन के साथ आवश्यकताएँ अनिवार्य रूप से जुडी हुई हैं। किसी-न-किसी रूप में जीवन में आवश्यकताएँ रहती ही हैं। अगर कोई गृहस्थ है, तब भी कुछ आवश्यकताएँ हैं इस शरीर के पोषण के लिए और यदि कोई मुनि है, तब भी इस शरीर की कुछ आवश्यकताएँ तो उसके साथ भी लगी रहती है।

इस प्रकार जब तक जीवन है, जब तक यह शरीर है, जब तक इस छोटे-से संसार में हम रह रहे हैं, और उसका उत्तरदायित्व जब तक हमारे ऊपर हैं, तब तक हम उसे सुरक्षित रखना चाहते है। और, सुरक्षित रखना चाहते हैं, तो उसकी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए भी प्रयत्न करना होता है।

शरीर की देख-भाल करना, उसका पालन-पोषण करना, उसकी रक्षा-सुरक्षा करना अपने-आप में कोई पाप नहीं है, कोई गुनाह नहीं है। शरीर को भूख लगती है और अगर वह रोटी मांगता है, तो यह कोई बुराई नहीं है; यह शरम-जैसी कोई चीज नहीं है। अगर प्यास लगती है और पानी चाहिए, तो यह भी कोई बुराई जैसी चीज नहीं है।

इसी प्रकार कुछ वस्त्रों की भी जरूरत होती है और कुछ और भी चीजे हैं इन्सान की जरूरत की। यह ठीक है कि साधु की भूमिका के अनुसार कुछ और चीजे हैं और गृहस्थ की भूमिका के अनुसार कुछ और चीजे हैं। दोनो की अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं और सीमाएँ है। दोनो अपनी-अपनी सीमाओ पर यात्रा शुरू करते हैं और अपने-अपने जीवन की जरूरते पूरी करते हैं।

शास्त्रकार आपसे लोभ और तृष्णा की बात करते हैं। और, इस प्रकार कहते है कि लोभ जो है, वह जीवन के लिए बहुत बुरी चीज है, तृष्णा जीवन के लिए बहुत बुरी चीज है। इसका अर्थ हमे सही रूप मे समझना चाहिए कि आवश्यकता कुछ और चीज है और लोभ कुछ और चीज है, और तृष्णा एव लालच कुछ और चीज है। आवश्यकताओं की पूर्ति करना कुछ और चीज है और तृष्णा रखना कुछ और चीज है!

आवश्यकताओ की तो सीमा होती है कुछ-न-कुछ। वह चाहे साधु हो या गृहस्थ हो, अपनी परिस्थितियो के अनुसार, अपनी-अपनी भूमिकाओ के अनुसार उनकी आवश्यकताओ की सीमा अवश्य होती है और उस सीमा के अन्दर-ही-अन्दर मनुष्य अपने जीवन की यात्रा तय करता है।

लेकिन, जब मनुष्य की इच्छाएँ सीमा से बाहर होने लगे, जब मनुष्य अपने इस शरीर की आवश्यकता को, परिवार की आवश्यकताओ को आवश्यकता के रूप मे ध्यान न लेकर, केवल संग्रह की मनोवृत्ति के रूप मे अपने-आपको

फैलाना शुरू करता है, तो उस समय हम कहेंगे कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की जो सीमाएँ हैं, उनके बन्धनों को तोड रहा है और बाहर में फैलाना शुरू हो रहा है। इस बाहर के फैलने को ही हम लोभ और तृष्णा कहते है।

हमे विचार करना है कि साधना के मार्ग मे, जब तक कि साधक अपने इस साधना के क्षेत्र मे यात्रा कर रहा है, वहाँ उसे जीवन के साथ लडना है या जीवन के विकारो के साथ लडना है? किसके साथ लडना है इन दो मे मे उसे? अपने प्रयत्नो और पुरुषार्थ के साथ लडना है या कि जो प्रयत्न और पुरुषार्थ के साथ मे विकार आ रहे है, उन विकारो के साथ मे लडना है? अपनी इन्द्रियो से लडना है या कि इन्द्रियो के जो विकार है, उनसे लडना है? हम अपने मन से गुत्थमगुत्था किया करे, रोज उससे लडते-झगडते रहे या कि मन के जो विकार है, उनसे लडना शुरू करे?

भारतवर्ष के महान पुरुषो ने, भारतवर्ष के महान विचारको ने मनुष्य के सामने बड़ा स्पष्ट दर्शन रक्खा है, और दार्शनिक दृष्टिकोण मे अपना हृदय स्पष्ट रूप मे रख छोडा है उन्होंने। उनका कहना है कि मनुष्य, तुझे अपने इस शरीर से नही लडना है, परन्तु इस शरीर के विकारो से लडना है। तुझे हृदय से नही लडना है, परन्तु हृदय के विकारो से लड़ना है। तुझे अपने मन से नही लडना है, पर, मन के विकारो से लड़ना है। तुझे जीवन से भी नही लड़ना है, जीवन तो एक बहुत बडी पवित्र वस्तु है, परन्तु इस जीवन के विकारो से लडना है। और, तुझे अपनी इन इन्द्रियो, हाथ, नाक, कान,

मुँह आदि से भी नहीं लडना है, पर इनके अन्दर जो विकार है, उनसे तुमुल युद्ध करना है और लड कर इन विकारो को ही परास्त करना है।

तो, हमारी असली लडाई विकारो से है। हमे विकारो को नष्ट करना है।

इस दृष्टिकोण से जब हम साफ और स्पष्ट रूप मे विचारते है या कोई चिन्तन लाते है, तो इसका अर्थ यह है कि लोभ एक विकार है, तृष्णा एक विकार है, वासनाएँ विकार है। और, जब हम अपनी आवश्यकताओ की सीमाओ को लाघ कर निरन्तर इन्ही तृष्णा, लोभ, लालच आदि मे रचे-पचे रहते है, तब समझना चाहिए कि हम तृष्णा, लोभ या लालच आदि मे फँस गये है। तृष्णा हम पर सवार हो गई है। इसलिए इस विकार से हमे लडना होगा। यह जीवन की आवश्यकता नही है, आवश्यकता की सीमा से हम आगे बढ गये है।

मनुष्य जिन्दगी की जरूरत के लिए जो पैसा कमाता है, वह धन अपनी जरूरत की पूर्ति के लिए एक साधन है। जब तक जीवन है; तब तक धन के लिए प्रयत्न चालू करना और उसके लिए योग्य सघर्ष करना यह गृहस्थ-जीवन की मर्यादा है। जीवन मे जहाँ उत्पादन के लिए सघर्ष किया जाता है, वहाँ पर अपने श्रम तथा पुरुषार्थ का उपयोग करना, उसके सम्बन्ध मे चिन्तन करना और उसके लिए कुछ विचार करना, यहाँ तक तो कुछ गृहस्थ के दृष्टिकोण से ठीक बैठ जाता है, परन्तु उस धन के विकल्पो को और सकल्पो को लेकर दुनिया-भर मे चक्कर काटना, घर पर भी दौडे-दौडे आ गये और घर मे जब कभी

कोई आनन्द की बात हो, तो वह तो पडी रहे एक तरफ और वहाँ भी उस रुपये-पैसे के पीछे फँसा रहे, उसी के विचार मे पडा रहे। गृहस्थी के अन्दर माता-पिता भी है। उनके पास भी कभी बैठना पडे, तो वहाँ बैठ कर भी रुपये-पैसे का हिसाब करता रहे, तो जिन्दगी मे यह अर्थ ठीक नही बैठता।

इसी प्रकार घर मे पत्नी है, उसके पास मे आकर भी रुपये पैसे की बात चलती रहे, उसके पास मे बैठकर भी अगर रुपये-पैसे का ही व्यवहार चलता रहे उसका, तो समझना चाहिए कि जीवन मे विकार आ रहा है। इसी प्रकार घर मे पुत्र और पुत्रियाँ भी हैं, उनके शिक्षण मे जो उनके जीवन-निर्माण करने का एक साधन है, कुछ खर्च होता है, तो वहाँ पर भी रुपये-पैसे के हिसाब मे उनके जीवन के निर्माण को तोलना शुरू कर देना, यह एक गलत चीज है।

जीवन के अन्दर घर मे अगर कोई बीमार है और तब उसकी सेवा का प्रश्न आ जाए, तो वहाँ भी रुपये पैसे का हिसाब लगाने बैठ जाना और एक तरफ उसके स्वास्थ्य का प्रश्न है, तो उसे भी दूसरी तरफ रुपये-पैसो से तोलना शुरू कर देना, यह ठीक बात नही है। इसका कुछ भी अर्थ नही है जीवन मे। यह जीवन का विकार है।

आप का एक संगी-साथी, जो जीवन मे आपके साथ चलने के लिए आया है, और आप को दूर-दूर तक जीवन मे उसके साथ जीवन-यात्रा तय करनी है, पर वहाँ पर भी अगर उसके स्वास्थ्य को रुपये-पैसे के हिसाब से तौलना प्रारम्भ कर दे, तो मै समझता हूँ कि वहाँ पर भी वह धन विकार के रूप मे ही

है। वहाँ पर वह धन मनुष्य के मन मे विकार के रूप मे भर गया है।

एक सज्जन मिले। बातचीत हुई। उनकी पत्नी बीमार थी बहुत अर्से से। क्षय का रोग था उसे। कुछ इधर-उधर उसके इलाज के लिए थोडा-बहुत प्रयत्न किया। कुछ इधर ले गये, कुछ उधर ले गये, और इलाज कराया। कभी किसी डाक्टर से, तो कभी किसी वैद्य से। पर, आखिर मे वह रह नही सकी। मैंने पूछा क्या हाल है तुम्हारी पत्नी का ?

वह बोला महाराज, मरने वाली तो मर गई, पर हमे भी मार गई।

मैंने कहा तुमको कहाँ मार गई, तुम तो बैठे हो यहाँ सही सलामत मेरे सामने! तुम्हे वह कैसे मार गई ?

उस सज्जन ने उत्तर दिया महाराज, मार तो क्या गई। पर, उसकी बीमारी के इलाज के लिए बहुत कुछ पैसा खर्च करना पडा है और इधर-उधर की भाग-दौड मे बहुत कुछ दिक्कते उठानी पडी है। इस बीमारी मे हमारी जो मूल पूंजी थी, वह भी समाप्त हो गई और आगे के लिए भी कुछ कमा नही सके। अगर उसे मरना ही था, तो वह पहले ही क्यो न मर गई ? फिर हमे इस तरह पैसे के अभाव मे मरना तो नही पडता। इस तरह से हम तो नही मरते, उसको मरना तो था ही।

मैंने विचार किया इस पर और उत्तर दिया तुम एक पति के हिसाब से, एक पति की दृष्टि से नही बोल रहे हो, परन्तु मनुष्य जो धन का गुलाम रहता है, उस दृष्टिकोण से बोल रहे हो।

जीवन में धन की भी कुछ सीमाएँ होती है और उसकी रक्षा की भी। जीवन में कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती है, जहाँ पर इसका विचार किया जाता है। लेकिन, हर जगह इसको उसी हिसाब से तोलने लग जाएँ, तो यह जीवन के प्रति हमारा सही दृष्टि-कोण नहीं है।

भारतवर्ष के जितने भी दर्शन है, वे हमसे एक ही बात कहते हैं कि तुम कर्म करते हो, पर उसका रस समाप्त कर देते हो। घर में पत्नी बीमार है, उसकी सेवा के लिए आपने सब-कुछ किया। पैसा भी खर्च किया और इधर-उधर दौड़े भी। वह तो हुआ सब-कुछ। पर, उस का आनन्द नहीं प्राप्त कर सके अपने जीवन में और उसका जो रस मिलना चाहिए था उस जीवन में, वह रस भी नहीं प्राप्त कर सके। ऐसे ही सिसकते हुए चलते रहे। और मरने वाला जब मर जाता है तब उस समय विचार करते हैं कि इतना खर्च हो गया, यह कर दिया, यह कर दिया! हमें पैसे से भी मोहताज बना दिया और तकलीफों से भी जार-जार कर दिया! मरना तो था ही उसे, पहले ही क्यों न मर गई? हमारे लिए यह कर गई हमें भी मार गई!

इसका अर्थ यह है कि एक तरफ तो आपने उसकी सेवा-शुश्रूषा करके उसके लिए पैसा भी खर्च किया और इस प्रकार मानो आपने इस सेवा के द्वारा एक सोने का महल खड़ा किया, किन्तु "मरने वाली तो मर गई, पर हमें भी मार गई,"—यह कह कर उस सोने के महल को, हनुमान ने जैसे सोने की लंका को जलाया, वहाँ के सोने के महलों को जलाकर भस्म कर दिया, उसी तरह आपने भी इस सोने के महल को इस तरह कहकर समाप्त कर दिया, भस्म कर दिया, भूमिसात् कर दिया!

घर मे और अपने जीवन मे आपने सेवा के रूप मे सोने का एक कल्पवृक्ष खडा किया और वह कल्पवृक्ष आपकी सद्भावनाओं का केन्द्र होता, आपके जीवन मे भी उसके सौन्दर्य की मिठास और चमक रहती, परिवार मे और दूसरे आसपास के लोगो के लिए भी एक बहुत बड़े आदर्श की बात रहती, लेकिन उसका रूप आपने तैयार किया और इसके साथ ही यह कह कर कि "मरने वाला तो मर गया, हमे भी मार गया," उस कल्पवृक्ष को जड़ से काटकर धराशायी कर दिया।

तो, दृष्टिकोण क्या है हमारे जीवन का ? हर जगह जो फायदे की बात है, हर जगह जो फायदेवाद की जो आवाज है और हर जगह सौदेबाजी की जो चीज है, उसी को हम कहते हैं लोभ, आसक्ति और तृष्णा। जीवन सौदे की चीज नही है। जीवन के सारे कर्म सौदे के लिए नही बने होते हैं। सौदेबाजी और व्यापार की मनोवृत्ति का अपनी जगह कुछ उपयोग तो है, पर हर जगह, हर चीज मे सौदा करने लग जाएं, व्यापार के हिसाब से तौलने लग जाएँ, तो यह कोई जीवन का वास्तविक दृष्टि-कोण नही है।

घर मे जो माता-पिता है, बडे बूढे है, कभी अपने जीवन मे उन्होने भी काम किया था। पर, अब कुछ काम नही कर रहे है और इस प्रकार आगे दस बरस जीएँगे कि बीस या तीस बरस जीएँगे, कम या ज्यादा कितना जीएँगे, यह पता नही। अर्थशास्त्र की दृष्टि से उनकी परिवार मे जो उपस्थिति है, उसे अगर आप विचार करेंगे, तो वह टोटे की ही है, नफे की नही है। क्योंकि, जितने दिन उनको जिन्दा रहना है, उतने दिन काम तो उनको

करना नहीं है। उन पर तो अब खर्च ही होना है। उनके पीछे, अगर वे कभी बीमार होंगे, तो खर्च करना पड़ेगा, और खाने-पीने का तो खर्च रोजाना करना ही पड़ेगा। और भी उनकी इधर-उधर की कुछ जरूरतें हो सकती है, जिनके लिए निरन्तर प्रयत्न करना ही होगा।

इस तरह अर्थशास्त्र की दृष्टि से अगर आप हिसाब लगाने बैठे, तो हजार, दो हजार या पाच-दस या दस बीस हजार जो-कुछ भी उनके ऊपर खर्च होंगे, वे खाली व्यर्थ में ही जाएँगे। ऐसा अर्थशास्त्र अगर आप लेकर बैठे तो ससार का कल्याण हो लिया? जिसे हम इन्सानियत कहते है, उस हालत मे उसका भी कोई अर्थ नहीं रहता है।

माता पिता के गौरव को रुपये-पैसे से नहीं तोला जाता। उनकी उपस्थिति परिवार मे जो चाहे दस बीस बरस या कितने भी समय तक रहे और फिर भी काम नहीं करना है उनको, पर उनका वह सद्भावना और प्रेम का झरना हमारे लिए बहता रहता है, घर-भर मे बहता रहता है। सब जगह, सारे घर मे उनके स्नेह का अमृत रस छलकता रहता है। घर मे बेटे, पोते, पोतियो, नातियो आदि सब पर, इधर-उधर जो भी है, उन सब पर उनके स्नेह और सद्भावना की छाया पड़ती रहती है। उनके स्नेह और सद्भावना की यह छाया जीवन मे अमृत का काम देती है।

ऐसी स्थिति मे, उनकी उपस्थिति को रुपये-पैसे के हिसाब से तोलकर यह मालूम करना कि इनसे नुकसान है अर्थशास्त्र की दृष्टि से और कोई फायदा नहीं होने वाला है रुपये-पैसे

के हिसाब से, तो यह जीवन का सही दृष्टिकोण नहीं है। यह दृष्टिकोण मनुष्यता का दृष्टिकोण नहीं है। यह मनुष्य के जीवन का महत्त्वपूर्ण अग नहीं है। जहाँ ऐसा सौदे का विचार आ जाता है, वहाँ हम समझते हैं कि लोभ, आसक्ति जीवन मे चली आ रही है।

इसी प्रकार आपके वाल-बच्चे हैं और भी परिवार के दूसरे आदमी हो सकते हैं, तो उनकी उपस्थिति मे जीवन के अन्दर हर जगह सौदेवाजी का रूप लेकर आप जो काम करना चाहते है, यह ठीक नही बैठता है जीवन के क्षेत्र मे।

धर्म के क्षेत्र मे भी ऐसा रहता है कि मनुष्य धर्म करता है, थोडी-बहुत साधना करता है, भजन, ध्यान वगैरह करता है। और, भजन और ध्यान करके जब खडा होता है, तो फिर उसको तौलना शुरू करता है कि आज इसका क्या फल मिलेगा मुझे? इसी प्रकार, भगवान् के साथ मे भी सौदेबाजी होती है। लोग प्रार्थना करते है कि 'प्रभु! मेरे को यह देना, वह देना।'

ऐसी वात मालूम होने लगती है कि जैसे इस जीवन के हर क्षेत्र मे हमारी सौदेवाजी करने की मनोवृत्ति ही काम कर रही है। भगवान् और धर्म से भी सौदा करते है और इस तरह जीवन के हर क्षेत्र मे हमारी सौदेवाजी चलती है। जिस परिवार मे, जिस समाज मे अथवा जिस राष्ट्र मे, यह सौदे की मनोवृत्ति आ जाती है, तो न वह परिवार पनपता है, न वह समाज और न वह राष्ट्र ही पनप सकते है। सम्प्रदायो, धर्मो और परम्पराओं मे भी अगर यह सौदे की मनोवृत्ति घर कर गई है,

तो वह सम्प्रदाय, धर्म और परम्परा भी विनाश की ओर ही अग्रसर होते है।

यह सौदेबाजी की मनोवृत्ति सबसे बड़ा कारण है, जो कि हमारे जीवन का विकास नहीं होने देती है। हम अपने जीवन में खोये-खोये से रहते है। सौदेबाजी के कारण हमारे हृदय और मस्तिष्क में न किसी का प्रेम छलकता है, न उसमें किसी के प्रति सद्भावनाएं सुरक्षित रहती हैं और न साधना का गौरव तथा रस ही हमारे मस्तिष्क में रहता है। उसके तो कोने-कोने में इधर-उधर इकन्नियाँ, दुअन्नियाँ, अठन्नियाँ, रुपये, पैसे और नोट-ही-नोट ठुसे रहते हैं। ऐसी स्थिति में सारा मस्तिष्क इन रुपये-पैसों से ही घिर जाता है और उन्हीं की कल्पनाओं में घूम-घूम कर वह जीवन के रस को सर्वथा नष्ट कर देता है, उससे ऊपर उठने की हमारी शक्ति चकनाचूर हो जाती है और जीवन के कर्तव्य के क्षेत्र में ठीक शुद्ध भाव में हम आगे नहीं बढ़ सकते हैं।

भगवान महावीर ने भी और संसार के दूसरे विराट् महापुरुषों ने भी यही कहा है कि मनुष्य की यह सबसे बड़ी कमजोरी है कि वह जो कर्म करता है, वह साधना के मार्ग में जो-कुछ भी क्रियाकाण्ड करता है, उसके अन्दर उसकी काम की मनोवृत्ति रहती है सकाम भावनाएँ रहती हैं। जब तक उसकी यह काम की मनोवृत्ति, सकाम वृत्ति नहीं छूटेगी और जब तक निष्काम मनोवृत्ति नहीं जागेगी जीवन में, शुद्ध कर्तव्य समझकर, मनुष्य का आदर्श समझकर वह इस काम

को करने के लिए आगे नहीं बढेगा, तब तक जीवन मे मनुष्य की जो महत्त्वपूर्ण भावनाएँ हैं, वे चमक नहीं सकेगी और इस प्रकार परिवार, समाज और राष्ट्र जो भी कुछ हैं, सब फीके-फीके मालूम पड़ेगे।

गीता मे अपने समय के महान् कर्मयोगी कृष्ण भी निष्काम भावना की बात पर बल देते हुए कहते हैं—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

मनुष्य! कर्म करने का ही तुझे अधिकार है, फल के सम्बन्ध मे सोचने का नही।

मनुष्य के अन्दर यह एक दुर्वलता है कि जब उसके सामने कर्तव्य आकर खडा होता है, तो वह उससे इधर-उधर हट कर सोचना शुरू कर देता है। वह कर्तव्य को कर्तव्य की दृष्टि से न देख कर उसे फल के दृष्टिकोण से नापना शुरू कर देता है। वह विचार करता है कि यह जो कर्तव्य है, उसे पूरा करने से मुझे कुछ मिलेगा या नहीं? इस काम के करने से मुझे कुछ प्राप्ति होगी या नहीं? इस प्रकार पहले से ही उसका मन कर्तव्य को छोड कर फल पर जा अटकता है। कर्म करने का जो उत्साह है, आनन्द का रस है, उसका स्रोत उसके मन मे से सूख जाता है, वह केवल फल के ही सपने देखता रहता है।

जब फल मुख्य बन जाता है, तो उस स्थिति मे मन मस्तिष्क मे एक जहरीला और नशीला तत्त्व भर जाता है। फल मे ही जिसकी आसक्ति है और फल मे ही अगर किसी के मन की

आसक्ति बनी हुई है, तो उस फल को प्राप्त करने के लिए अन्याय भी अगर होता हो, अन्याय भी अगर करना पड़े तो वह अन्याय से भी फल प्राप्त करना चाहेगा। झूठ बोलकर, धोखा देकर परिवार और समाज तक में सब प्रकार के द्वन्द्व और दुर्भावनाएँ फैलाकर भी प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। और, ऐसा प्रयत्न किया भी गया है।

भगवान महावीर के समय के इतिहास को पढ़ते हैं, तो राजा श्रेणिक और अजातशत्रु की कहानी की याद ताज़ा हो जाती है। उसमें एक ही बात ध्यान में आती है कि राजा श्रेणिक, वह प्रतापी सम्राट उस सोने के सिंहासन का और उस साम्राज्य के सुखों का भोग करने के बाद अपने जीवन के मध्याह्न से भी आगे बढ़कर बुढ़ापे की ओर जब चलता है, तब भी वह उस ऐश्वर्य और सत्ता की गद्दी को छोड़ नहीं सका और जब उसी पर चिपका रहा, तो उसके और भी पुत्र थे अनेकों। दूसरी भी सन्तानें थीं उसके।

लेकिन, उसके एक पुत्र अजातशत्रु के मन में क्या कल्पना और क्या संकल्प-विकल्प आए कि उसके सामने से, उसके मस्तिष्क से पिता तो हट गए और वह सोने का सिंहासन उसके सामने चमकने लगा। अब निरन्तर इसी प्रकार का विचार उसके मन में घूमता रहा कि पिता बूढ़े होते जा रहे हैं, पर फिर भी ये सिंहासन नहीं छोड़ रहे हैं। अब न मालूम कितने बरस और जिएँगे ये? क्या पता इस सिंहासन पर कब तक बैठे रहेंगे और न जाने कितने बरस और लगेंगे मुझे स्वयं को इस सिंहासन पर बैठने में। अगर पिताजी का अधिक वर्ष लग गए

मरने मे, तो मेरा तो बुढ़ापा ही आ जाएगा और बूढे होकर अगर सिंहासन पर बैठे भी, तो जीवन का आनन्द क्या लेगे ? जीवन का क्या आनन्द रहेगा उस समय ?

इसका अर्थ तो यह हुआ कि उसकी दृष्टि मे वह सिंहासन प्रजा की रक्षा, सेवा और प्रजा के पालन के लिए, प्रजा का दास और सेवक बनकर उस पर बैठने के लिए नही रहा। यह भाव उसके मन मे नही रहा कि वह जनता का सेवक बनकर चले; उसके सुख मे सुखी और उसके दुःख मे दुखी रह कर उसके दुखो को दूर करने मे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। अगर यह भाव उसके मन मे रहता, तो वह सिंहासन पर बैठने के लिए इतना लालायित न होता। उस वक्त वह कुछ और ही सोचता। वह सोचता कि मुझे कर्तव्य के नाते पिता के बाद मे जब भी कभी सिंहासन मिलेगा, चाहे वह जवानी में मिले या बुढापे मे मिले, कभी भी मिले, कोई बात नही। जिस समय भी मेरा समय आएगा कर्तव्य और सेवा करने का, जब भी यह सेवा मुझे मिलेगी, तो उस समय उसी के अनुसार सेवा करेंगे।

परन्तु, अजातशत्रु के मन मे तो बैठे बैठे विचार उठता है कि अगर यह सिंहासन बुढापे मे मिला, तो क्या करना है फिर इस सिंहासन को लेकर ? मौज-मजा और ऐश्वर्य का भोग नही कर सकेंगे उस समय। पुद्‌गलो के भोग-विलास का दृष्टिकोण ही उस सिंहासन के पीछे जब रह गया, तो सोचता है अजातशत्रु कि कब सिंहासन मिले और कब न मिले ? इस तरह सोचते-सोचते उसने देखा कि सिंहासन के मिलने

में और कोई रुकावट नहीं है, पिता ही रुकावट है केवल. तो एक दिन पिता को कैद कर लिया जाता है, काठ के पिंजरे में डाल दिया जाता है और खुद सोने के सिंहासन पर बैठ जाता है।

इस घटना पर हम विचार करते हैं तो मालूम होता है यह आसक्ति है जीवन की। फल के प्रति जब आसक्ति हो जाती है, तो उस आसक्ति को मनुष्य पूरा करने के लिए प्रयत्न करता है, तो उस समय उसका ध्यान कर्म के न्याय और अन्याय पर नहीं रहता है। कर्म की सच्चाई और भलाई पर नहीं रहती है उसकी दृष्टि। उसका ध्यान, वह कोई ठीक मार्ग के द्वारा उसको प्राप्त कर रहा है या नहीं, इस पर नहीं रहता है। फल का ध्यान जरूर रहता है, पर कर्म के अच्छे-बुरेपन पर ध्यान नहीं रहता।

अगर अजातशत्रु का ध्यान कर्म पर होता, तो वह पिता की सेवा करता, उन्हें अपनी सेवा से प्रसन्न करता। उस सिंहासन को प्रजा की भलाई के लिए उपयोग में लाने की अपनी क्षमता साबित करता। अपनी योग्यता की छाप प्रजा पर डालता। इधर-उधर वह प्रजा के जीवन में प्रवेश करता और अपनी उपयोगिता प्रकट करता कि मेरी भी कुछ उपयोगिता है प्रजा के लिए, जिस उद्देश्य के लिए वह सिंहासन होता है, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए। और, इस प्रकार वह प्रकट करता कि जल्दी से-जल्दी मेरी सेवाएं इसके लिए ली जाएं।

उसकी बुद्धि तथा प्रतिभा विलक्षण है। प्रजा की सेवा के लिए मेरा उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए यह पूर्ण योग्य है, इसलिए इसको जल्दी-से-जल्दी जनता की सेवा करने का और अपनी बुद्धि एव प्रतिभा का उपयोग करने का अवसर दिया जाना चाहिए।

इस तरह मनुष्य का काम यह है कि वह अपनी उपयोगिता प्रकट करे। अगर अपने परिवार मे काम करना है, तो उसके लिए अपनी उपयोगिता की अनुभूति करा सके परिवार को। अगर समाज मे नेतृत्व प्राप्त करना है, तो समाज मे भी अपनी उपयोगिता जँचानी ही पड़ेगी। इसी प्रकार राष्ट्र म अगर अपना नेतृत्व प्राप्त करना है, तो वहाँ भी उस के लिए अपनी उपयोगिता साबित करनी पडेगी। जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यो न हो, जब मनुष्य अपनी उपयोगिता प्रकट कर देता है और प्रजा को मालूम होता है, परिवार या समाज को मालूम होता है कि इसका सहारा लेना आवश्यक है या आवश्यक हो गया है, तो तुम अगर पीछे भी हटोगे, तो स्वय प्रजा, समाज या परिवार के लोग तुम्हे पीछे नही हटने देगे। तुम आगे ही बढाये जाओगे।

यह भी एक मार्ग था अजातशत्रु के लिए। और इस मार्ग के द्वारा वह सिंहासन तक पहुँच सकता था उसकी पहले की हजारो पीढियो ने इसी तरह से सिहासन प्राप्त किया था। उसके सामने अपने ही पूर्वज राम का लक्ष्य सामने मौजूद था। इसी प्रकार ससार के दूसरे कई विराट् पुरुषो का आदर्श भी सामने था। पर, वहा तो फल की आसक्ति इतनी बढ कर गई थी मन मे कि यह सिंहासन प्राप्त किया जाए, चाहे वह

न्याय से मिले या अन्याय से मिले। और, जब वह सीधी तरह से मिलना मुश्किल हो गया, तो पिता की भक्ति, सेवा सत्कार या सम्मान सभी कुछ ताक पर रख दिया गया और पिता को अन्त में जेल में डालना पड़ा।

मैं कहता था आपसे कि यह वृत्ति जो हमारी बन गई है, उससे हम जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। जब जीवन के प्रति हमारा लक्ष्य कर्तव्य-बुद्धि में न होकर फल की आसक्ति की दृष्टि से होना शुरू हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में परिवार, समाज और राष्ट्र भी नीचे गिरते हैं और मानव-मात्र नीचे गिरता चला जाता है।

भारत में या दूसरे देशों में जब मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र में सौदेबाजी के द्वारा आगे बढ़ा, तो वह नीचे गिरा। उसका समाज और राष्ट्र भी नीचे गिरा। जब मनुष्य अपने कर्म को ड्यूटी पूरा करने के लिए और विराट संसार का रथ जो चल रहा है, उसमें मेरा भी एक अस्तित्व है, मैं भी इस सारी मशीन का एक छोटा-सा पुर्जा हूँ—यह समझ कर चलेगा, अपने-अपने केन्द्र पर ठीक काम करेगा, तो वह विराट संसार के रथ को चलाने में सहायक सिद्ध होगा। अगर मनुष्य अपनी जगह पर ठीक तरह से हरकत नहीं करेगा और उस स्थिति में उसकी जो उपयोगिता है, अगर वह उसे ठीक ढंग से नहीं समझेगा, तो इस विराट संसार के अन्दर गड़बड़ पैदा हो जाएगी।

इस तरह अपने-आप को मनुष्य तुच्छ न समझे अपने जीवन में हीनता न आने दे, वरन अपने को इस विराट

ससार का एक महत्त्वपूर्ण पुर्जा समझे और यह समझकर जब मनुष्य काम करता है और फल मे आसक्ति नहीं रखता है, तो वह जीवन के अन्दर एक महत्त्वपूर्ण काम कर जाता है।

एक आचार्य ने मनुष्य के जीवन का विश्लेषण किया है और इस ससार के जीवन का विश्लेषण करते हुए उसने अलग-अलग भूमिकाएँ बाँधी हैं। ससार मे कुछ मनुष्य जो बुराई से बचे रहते हैं, वे किस दृष्टिकोण से बचे रहते हैं? क्या-क्या दृष्टिकोण किन-किन लोगो के पीछे रहा है, उसका एक सुन्दर रूपक उन्होंने सामने रक्खा है। उन विचारो को मैं आपके सामने रख रहा हूँ।

वह विचार यह है कि एक मनुष्य मिलता है दूसरे मनुष्य से और देखता है कि उसकी बहुत खराब हालत है। उसकी सासारिक हालत ठीक नही है। पैसे की दृष्टि से बडा गरीब है और उससे वह पूछता है कि क्यो क्या बात है? इतने कमजोर क्यो दिखते हो?

वह कहता है क्या करें भाई, पास मे खाने-पीने को कुछ नही है जिन्दगी यो ही बरबाद होती चली जा रही है। जहर खाने के लिए भी एक पैसा नहीं है पास मे।

पहले ने कहा ऐसा क्यो करते हो, ससार मे क्या रक्खा है, यहाँ की न्याय और नीति मे क्या रक्खा है? इनका मूल्य क्या है? ससार मे तुम भी बदमाशी कर सकते हो, गुडागिरी कर सकते हो, तुम भी दुनिया मे चोरबाजारी और दुनिया-भर की मक्कारी कर सकते हो, ससार के भोग-विलास तुम भी प्राप्त कर सकते हो। इस गरीबी और

कमजोरी से छुटकारा पा सकते हो। क्या धरा है इस न्याय, नीति में और इस साधना में? तुम अपने जीवन को क्यों इस साधना के मार्ग पर चला रहे हो?

उत्तर देता है वह दूसरा व्यक्ति भाई, साधना-वाधना तो कुछ नहीं है। ये चोरी, गुण्डागिरी और मक्कारियाँ आदि जो-कुछ भी हैं, आता है मेरे मन में भी कि मैं भी करूँ, लेकिन विचार आता है कि अगर ये करते हुए पकड़ा गया, तो जिन्दगी के दस-पाँच बरस ऐसे ही बरबाद हो जाएँगे। पकड़ा गया, तो जेल हो जाएगी, दण्ड भुगतना पड़ेगा?

तो, इस तरह उसे डर लगता है जेल का। अगर पकड़ा गया, तो राज-दण्ड मिलेगा। उसे पुलिस के डंडे का डर है, सजा का डर है, फाँसी का डर है। वह डरता है कि राज-दण्ड सिर पर खड़ा है। हम समझते हैं, यह भी एक पाप से बचा हुआ आदमी है। यह भी एक जीवन है, जो बुराई से बच कर चल रहा है, विकारों के जो काँटे इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, उनसे अपने कदमों को बचा बचा कर चल रहा है।

पर, उस आदमी में प्राण नहीं हैं, जीवन की ज्योति नहीं है, जीवन का वह प्रकाश, विशाल प्रकाश उसमें नहीं झलक रहा है। राज-दण्ड चूँकि सिर पर खड़ा है, इसलिए वह डरता है और उसके सहारे वह बुराइयों से बचकर चल रहा है।

इसे हम कहते हैं पशुवृत्ति। इन्सान की मनोभावनाएँ उसके पास नहीं रही हैं। क्योंकि, डण्डे से तो पशु हाँके जाते

हैं। डंडा जब तक रहता है, तब तक पशु ठीक गरदन झुकाये चलता रहता है और जब देखता है कि डंडे वाला नहीं है, तो पशु दौड़ता है और इधर-उधर लोगों के खेतों में घुस जाता है।

इसका अर्थ यह है कि दण्ड मनुष्य के लिए नहीं, पशु के लिए बना है। पर, जो मनुष्य, मनुष्य बनकर भी दण्ड के भय से चलता है, राज-दंड के भय से पाप करने में बचा रहता है, बुराइयाँ करने से रुका रहता है, तो उसने अपने इस जीवन में शरीर तो मनुष्य का पाया है, इतना विकास तो जरूर कर लिया है, पर अभी उसका मन पशु-वृत्ति के अन्दर ही चल रहा है, और अपने आपको वह पशुता की भावना से ऊँचा नहीं उठा सका है।

इसी तरह एक दूसरा मनुष्य उसे मिलता है, तो उससे भी पूछता है वह कि "भाई, तुम चोरी क्यों नहीं करते? गुण्डागिरी क्यों नहीं करते हो, संसार की बदमाशियाँ क्यों नहीं करते हो? क्या हालत हो रही है तुम्हारी? ऐसे कैसे रह रहे हो? तुम भी अपनी इस हालत से छुटकारा पाने के लिए ऐसा-वैसा काम क्यों नहीं कर लेते हो?"

वह जवाब देता है बात तो ठीक है तुम्हारी। बुराई कर कर भी लें, पर सामने समाज है, बिरादरी है। क्या कहेंगे वे लोग, अगर मालूम हो गया उन्हें तो?

यह व्यक्ति अपने-आप में कुछ थोड़ा-सा विकास तो कर पाया है। जो राज-दंड है, वह भी उसके ऊपर शासन नहीं कर रहा है। लेकिन, समाज जो है, वह शासन कर रहा है उसके

ऊपर। बिरादरी का कुछ मूल्य है उसकी निगाहों में। दोस्त हैं, परिवार में कुछ लोग हैं इधर-उधर, उनका उसे डर है। जनता की आँखें बड़ी कीमती हैं उसकी नजरों में। उसकी आँखों का तेज बहुत अच्छा है।

हजारों वर्षों तक इन बिरादरी की आँखों ने जनता की आँखों ने और समाज ने मनुष्य पर शासन किया है और हजारों लोगों को जो कि राजदण्ड से भी नहीं डरते, राजदण्ड का भी जिन्हें कोई भय नहीं है, राजदण्ड के मूल्य की भी परवाह नहीं करने वाले जो थे, उन पर शासन किया है। उनके जीवन में कुछ प्रकाश और चमक रही है।

पहले की अपेक्षा यह जीवन [illegible] है। इस जीवन में मनुष्य जरा अपने लक्ष्य के आस-पास आ गया है। वह पशुता के जीवन से तो ऊपर उठ गया है। [illegible] के कारण सत्ता और फाँसी के डर के कारण अपने जीवन को बचाकर नहीं चल रहा है। उसे इतना राजदण्ड का भय नहीं है, जितना कि उसमें सामाजिक भावना का असर है। जितना उसके अन्दर आसपास के समाज का वातावरण काम कर रहा है, इतना राजदण्ड का भय काम नहीं कर रहा है।

तीसरा आदमी और मिला। उसे भी पूछ बैठा वह कहो, क्या बात है? कैसी स्थिति है आपकी यह? क्यों ऐसे मरे-मरे से रहते हो? जीवन मे ऐसे कैसे काम चलेगा? कुछ इधर-उधर की बुराई क्यो नही कर लेते हो? चोरी, बदमाशी, डाकेजनी क्यो नही कर लेते हो? चोरबाजारी और गुण्डागिरी क्यों नही कर लेते हो, ताकि यह जीवन तो ठीक तरह से चले। अच्छी तरह खा-पी तो सको?

उसने कहा वाह भाई, तुमने खूब कही। मैं कैसे कर सकता हूँ ये सब बुरे कर्म! यहाँ अगर कर भी ले और किसी का कोई डर नही। पर, अगर यहाँ कुछ डर नही, तो परलोक तो है! वहाँ तो उनका फल भुगतना ही पडेगा और इन बुरे कर्मों की बदौलत नरको मे सड़ना पडेगा।

यह जीवन विकसित तो जरूर हुआ है। वह अपने आप में कुछ अपने-आप ही के द्वारा सचालित तो जरूर हो रहा है। क्योंकि, जो लोग समाज के डर से बच रहे हैं, तो वे एक दिन जरूर बुराई कर लेगे। अगर उन्हे यह पता लग जाए कि समाज से भी छिपाकर अमुक कर्म किया जा सकता है, तो कर लेगे। अगर समाज को पता लग भी गया, तो धन की, सम्पत्ति की शक्ति, जो उनके पास है, उससे समाज और बिरादरी को भी ठीक कर लेगे। क्या करेगी समाज और बिरादरी? यह सोच लेते है। और ऐसी स्थिति मे, वह बुरा काम कर गुजरेंगे और समाज की भी परवाह नही करेगे।

परन्तु, जो जीवन को इस भूमिका से आगे बढ़ा कर ले

गया है और कहता है कि यह बात तो है साहब पर करें क्या? यहाँ हम बच जाएँगे, राजदण्ड के भय से भी बच जाएँगे और समाज के भय से भी बच जाएँगे, पर आगे पुनर्जन्म तो है। इसका फल आगे जाकर हम भोगना पड़ेगा और नरक जो है, उसमें सड़ना पड़ेगा। तो नरक में कौन जाकर पड़े, इस छोटे से स्वार्थ के लिए?

मैं सोचता हूँ कि उस व्यक्ति के अन्दर पाप-कर्म से बचने की एक प्रबल भावना काम तो जरूर कर रही है, पर फिर भी, यह जीवन का पूर्ण विकसित रूप नहीं है। राजदण्ड समाज के दण्ड का भय नहीं है, पर उस पर नरक का दण्ड तो ऊपर खड़ा है। इस तरह दण्ड उसके सिर पर भी [illegible] है। यह दण्ड फिर किसी भी प्रकार का क्यों न हो? यह आखिर दण्ड ही है। प्रकार में भेद जरूर है? फिर भी भय की भावना उसमें जरूर काम कर रही है।

उस व्यक्ति को अगर कभी ऐसा मौका मिल जाए, ऐसा अवसर मिले और ऐसे मनुष्यों की प्रेरणा मिले कि नरक और स्वर्ग कुछ नहीं है और यह प्रेरणा उसके अन्दर घर कर जाए, तो मैं समझता हूँ कि उसको सञ्चालित करने वाली शक्ति जो है, प्रेरणा देकर चलाने वाली ताकत जो है, उसमें से वह खत्म हो जाएगी और फिर अवश्य वह ऐसा जीवन बना लेगा कि कुछ भी किसी तरह का विचार वह नहीं करेगा और गड़बड़ा जाएगा इस संसार में। और, जब कुछ गड़बड़ा जाएगा, तो उसके आस-पास के समाज का एक विशाल क्षेत्र भी गड़बड़ा उठेगा।

एक चौथा व्यक्ति मिला उसे। उससे पूछा उसने क्यों नही आप अपने जीवन मे इस प्रकार की गडवड करते हैं? पाप क्यो नही करते हो? खाने मे, पीने मे, चोरी मे, माम में, मदिरा मे, मक्कारी मे, जुआ-वाजी मे, डाके मे, चोरवाजारी मे, इन सव वदमाशियो मे तुम क्यो नही हिस्सा लेते हो? क्यो नही ऐसा करते हो?

वह कहता है भाई हिस्सा लेने की वात तो दूर रही, हमारा तो मन भी नही होता है ये काम करने के लिए। ये तरीके जिन पर चलकर तुम कोई चीज प्राप्त करने की वात करते हो, उन चीजो को करने को मन ठीक नही समझता है। इसलिए हम ऐसा नही कर रहे हैं।

तो, ऐसे मनुष्य के सम्वन्ध मे हम समझते हैं कि वह अपने-आप पर ज्यादा केन्द्रित हो गया है। वह ससार के भय मे से निकल गया है, और ससार के प्रलोभनो मे से भी निकल गया है। उसके मन पर न स्वर्ग, न काम-भोग और न ससार के ये वैभव शासन करते हैं और न नरक ही शासन करता है। नरक के भयो को और स्वर्ग के लालच को उस व्यक्ति ने छोड़ दिया है। न प्रलोभन ही है, न लालच की मनोवृत्ति ही है। वह यहाँ पर अपनी जरूरतो को ऐसे किसी भी उपाय के आधार पर पूरा करने का सपना नही ले रहा है।

एक मनुष्य है, जो साधना की पूर्ति स्वर्ग के रूप मे देखना चाहता है। वह सोचता है कि मै यहाँ जो साधना कर रहा हूँ, तो उसका फल मुझे स्वर्ग मे मिलेगा। स्वर्ग के रूप मे देखना

चाहता है वह उसकी पूर्ति। इस तरह से बड़े प्रलोभन के रूप में काम करना चाहता है और एक बड़ा सट्टा खेलना चाहता है। एक रुपया यहाँ दान दे, तो स्वर्ग में हजार मिलेंगे। वह विचार कर लेता है कि यह सबसे अच्छा काम है। ऐसे दृष्टिकोण से स्वर्ग का शासन अगर मनुष्य के मन पर चल रहा है, यह स्वर्ग का शासन किसी समाज, परिवार, या राष्ट्र, अथवा किसी धर्म, संस्कृति या परम्परा से चल रहा है तो ऐसा शासन स्वर्ग का शासन नहीं है। यह मनुष्य के लोभ का, तृष्णा का और आसक्ति का शासन है उसके ऊपर। इस प्रकार से ही मनुष्य नरक के भय से या डर से इन चीजों को करने से बच-बच कर चल रहा है, तो इसका अर्थ भी यही है कि वह नरक जो जीवन के ऊपर छा गया है [illegible] भय चल रहा है, परलोक का भय चल रहा है। परमात्मा की चीज नहीं आ रही है। इसीलिए भगवान महावीर ने यह कहा—

आसक्ति तोडने के लिए, इस जीवन के दुःखों के मूल को तोडने के लिए अगली दुनिया की एक वासनात्मक प्रेरणा दी जाती है। तो यह क्या बात हुई ?

बड़ी गजब की बात है! अगर किसी मनुष्य से हम बात कहते हैं स्वर्ग की ओर कहते हैं कि धरा क्या है यहाँ ? यहाँ तो कुछ नहीं, इसको तो छोडो। इस दुनिया को छोडो। साधु बन जाओ, सन्त बन जाओ, तो बस वारा-न्यारा हो जाएगा! यहाँ अगर कुछ नहीं मिला, तो वहाँ तो देवलोक में रत्नों के विमान मिल जाएँगे ?

मैं समझता हूँ कि यह त्याग की वृत्ति जो पैदा की जा रही है, इसमें इस दुनिया को तोडने की कोशिश तो जरूर हो रही है। पर, अगले जन्म की आसक्ति, अगली दुनिया की आसक्ति बड़े लम्बे-चौड़े विस्तार के रूप में खडी की जा रही है। अगर यहाँ पर दस-बीस हजार या दो-चार लाख के देने की बात की जाती है, तो इसके बदले में वहाँ, दूसरी दुनिया में, स्वर्ग में तुम्हें लाखों-करोडों का वैभव मिलेगा, देवलोक के सुख प्राप्त होंगे—ऐसा प्रलोभन दिया जाता है।

यह तो ऐसा सट्टा खेला जा रहा है कि जिसमें एक रुपये का त्याग किया जा रहा है। और हजार, दस-बीस हजार की तो बात ही क्या, रत्नों के विमानों तक का लोभ दिया जा रहा है। अगर कोई मनुष्य अपने जीवन में चल रहा है। उसके पत्नी है, दो-चार बाल-बच्चे भी हैं। अगर उसे यहाँ पर यह प्रेरणा मिल रही है कि अपनी पत्नी को छोड दे। बाल-बच्चों को छोड दे। क्योंकि, यह तो विष

की बेल है, जो तेरा पतन कर रही है, बरबाद कर रही है तुझे। इस संसार में क्या रक्खा है। स्वर्ग में हजारों अप्सराएँ इसके बदले में मिलेगी।

मैं समझता हूँ कि इस प्रकार की जो धर्म प्रेरणा देता है, उससे बढ कर मक्कार धर्म दुनिया में कोई और मिल नहीं सकता। एक स्त्री के बदले में स्वर्ग में हजारों अप्सराएँ मिलेगी, देवियाँ मिलेगी। रुपया और पैसा यहाँ जो कुछ मिला है, उससे कई हजार गुना अधिक वहाँ स्वर्ग में मिलेगा, अगर ऐसी तृष्णा की लोभ की आग जलाई जा रही है, तो यह कोई ठीक रास्ता नहीं है जीवन का। यह जीवन का बिलकुल गलत और हीन दृष्टि-कोण है।

प्रलोभन, रुपये-पैसे और सोना-चाँदी के सिंहासनों के रूप में सौदे के हिसाब से तौलना शुरू करते है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि शुद्ध चैतन्यमय आत्म-प्रकाश को, जिस साधना से हम प्राप्त कर सकते हैं, उस साधना-रूपी हीरे के मूल्य को हम इन जड पत्थरों से और इन ससार के जड भोग-विलासो के मूल्य मे बदलने की तैयारियाँ कर रहे हैं ? इसका अर्थ यह है कि हम अपने-आप मे ठीक रूप मे जीवन के निर्माण करने के सपने नही देख रहे है। इसीलिए ससार के उस विराट् पुरुष ने कहा है —

"इह लोगे ससप्पओगा, परलोगे ससप्पओगा"

अर्थात् इस जीवन की असक्ति को तोड दो। इस जीवन मे तुम रह रहे हो, जीने के नाते, कर्तव्य के नाते, जो-कुछ भी काम कर रहे हो, तो उससे न्याय, नीति और पुरुषार्थ पैदा करो अपने जीवन मे। तुम्हे कभी आसक्ति भटकाने लगे, तुम्हारे जीवन के लोभ और विकार तुम्हे अगर कभी इधर-उधर धक्का देने लगे, तो उस समय तुम इस ससार की आसक्ति को तोड दो और अपने जीवन को ऐसे विषयों की आसक्ति से ऊपर उठाओ।

और, वह आगे कहते है कि इस शरीर की, इस ससार की आसक्ति तो टूट जाती है। अधिक-से-अधिक सौ, दो सौ और हजार वर्ष भी गिनो किसी की आयु, तो इस ससार की आसक्ति तो जल्दी टूट भी जाती है, लेकिन मन की बहुत बडी आसक्ति होती है परलोक मे। यह परलोक की आसक्ति नही टूट रही है मनुष्य की और इस आसक्ति के फेर मे पड़कर

इन्सान दुनिया-भर के इधर-उधर के अन्धकार में पड़कर न अपने परिवार में न समाज में और न अन्य किसी बात में रस लेता है और, अपने इस जीवन को इस प्रकार ऊबड़-खाबड़ बना लेता है कि जिसका कोई मूल्य नहीं रहता है। वह परलोक के सुनहरे स्वप्नों में पड़ा रहता है।

तो, भगवान महावीर ने फरमाया कि परलोक की इस आसक्ति को भी तोड़ दो। जब तुम्हें स्वर्ग सामने आकर धोखा देने लगे, आगे के जीवन का लोभ-लालच तुम्हारे सामने आकर अपना रूप रखने लगे, तो तुम्हारा [illegible] होना चाहिए कि तुम अपने कर्तव्यों को न इस संसार [illegible] से तोलो और न अगली दुनिया के प्रलोभनों से [illegible]। तुम अपने कर्तव्य के आदर्शों को न इस संसार [illegible] और न अगली दुनिया के भयों से तोलो। तुम अपने [illegible] को उस पवित्रता के मूल्य पर तोलो जिससे जीवन पवित्र और निर्मल बनता चला जाए और वह पवित्रता तुम्हारे जीवन में अगर रह रही है, तो यह सबसे बड़ी [illegible] है [illegible] भगवान महावीर ने आगे कहा है —

जीवन और मरण—इन दोनों के नीचे कर्तव्य की पृष्ठभूमि रह रही है। मनुष्यता और मानवता की रक्षा करते हुए, इस आत्मा के अन्दर परम तत्त्व की खोज करते हुए, अगर जिन्दा रह रहे हैं, तो चाहे पचास बरस, सौ बरस या हजार, लाख, दो लाख तक भी और इससे भी अधिक सागरोपम और पल्योपम की आयु के जीव भी इस ससार मे होते हैं, उन्हे तब तक जीने का हक है।

परन्तु, जब देखे कि आत्मा के लिए, इन्सानियत के लिए जिन्दा नही रह रहे है, बल्कि उसकी हत्या करके जिन्दा रह रहे हैं, तो उस हालत मे जीवन की आसक्ति को तोड देना चाहिए और अपने परम आदर्श के पीछे अगर जिन्दा रहना है, तो जिन्दा रहे और परम आदर्श के पीछे अगर मृत्यु भी आए, तो उसे भी हसते-हसते स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

जीवन के सपने आएँ, तो मन गुदगुदाये और मृत्यु की बात आए, तो मन गड़बडाए—यह हमारा दृष्टिकोण नही होना चाहिए। यह जीवन-मरण तो एक खेल है। जब तक आत्मा है, जिन्दा हैं और जिन्दा ही रहेगे। जब तक यह शरीर है, तब तक मृत्यु अवश्यम्भावी है, तो फिर डरना किससे ? क्योकि जिन्दा रहना आत्मा का धर्म है और मरना इस शरीर का धर्म है। यह तो चलेगा। इस चलने मे कोई क्षोभ तुम्हारे अन्दर नही आना चाहिए।

यह दृष्टिकोण जब आपके जीवन मे आ जाता है, तो समझना चाहिए कि मैं इस ससार मे जरा ऊपर उठा

मदद के लिए। इधर से लोग आये, उधर से लोग आये और हल्ला कर रहे हैं, शोर मचा रहे है, बचाने की भी कोशिश कर रहे हैं, पर अन्दर से चूँकि आग ने जोर पकड लिया था, इसलिए वहाँ घर के अन्दर घुस कर उस स्त्री और बच्चे को निकाल लाने की किसी की भी हिम्मत नही हो रही थी। वहाँ तक पहुँचने की किसी की हिम्मत नही पडती थी।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जब ऐसी दुर्घटनाएँ होती हैं, तो कुछ लोग तो दिल से दर्द महसूस करके मदद को जाते है और उस दुर्घटना मे ग्रस्त, दुर्भाग्य से पीडित इन्सानो के प्रति समवेदना लेकर चलते हैं। पर, कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो अनुत्तरदायित्व-पूर्ण ढग से खडे हो जाते हैं, जो काम करना चाहिए, व्यवस्था करनी चाहिए, वह नही करते। वहाँ अधिक आदमियो की भीड़ मात्र दर्शको के रूप मे आकर खडी हो जाती है और वे काम मे रुकावटे भी पैदा कर देते है कभी-कभी।

इसी प्रकार वहाँ भी सैकडो लोग खडे थे, पर कुछ नही। किसी की हिम्मत नही पड रही थी उन्हे निकाल लाने के लिए। इसी बीच मे एक युवक आया। उसके मन मे मानवता की प्रेरणा जागी, एक पवित्र सकल्प उसके मन मे पैदा हो गया। जब पवित्र सकल्प पैदा हुआ, तो शरीर उसे याद नही रहा। उसे यह भी याद नही रहा कि तेरे भी शरीर है। उसे अपना परिवार भी याद नही रहा। जब उस बच्चे और स्त्री की चीख-पुकार सुनी उसने, तो घर-बार और अपना स्वय का शरीर भी सब गायब हो गए। वह कूदकर अन्दर जाता है और

उस बच्चे और औरत को ले आता है निकाल कर। लेकिन, खुद काफी झुलस जाता है उस आग में। वह युवक अपने ही कुछ परिचितों में से था। समाचार मिले कि उसका सारा शरीर झुलस गया है। मन ने प्रेरणा दी कि चलो दर्शन देकर आएँ। पहुँचे साहब। और देखा तो वास्तव में काफी झुलसा हुआ शरीर था और शरीर पर वेदना चक्कर काट रही थी। लेकिन, मैंने देखा कि उसका जो हृदय था और जो कि उसका मुख था, वह उस वेदना से पर था। हृदय उसका मुस्करा रहा था! चेहरा चमक रहा था!

मैंने फिर कहा तुमने जब बचाया, तो कुछ तो सोचा ही होगा कि इससे पुण्य का बन्ध होगा और इसके द्वारा आनन्द पाएँगे यहाँ भी और आगे भी। ऐसा कुछ ध्यान तो आया होगा ?

"कुछ नही ध्यान आया।" उसने अपना उत्तर दोहराया।

मैंने फिर पूछा तो क्या यह भी ध्यान नही आया कि मै इन्हे बचा लूँगा, तो मेरी प्रशसा होगी, वाहवाही करेंगे लोग। ऐसा भी कोई सकल्प नही आया क्या ?

"यह भी कोई सकल्प नही आया महाराज"—उसने वैसे ही सरलता से जवाब दिया।

"तो फिर क्या सकल्प था तुम्हारा ?" मैंने फिर पूछा।

"मैंने उस समय कुछ विचार ही नहीं किया कि यह कर्म करूँगा, तो स्वर्ग मिलेगा या नरक के बन्धन टूटेंगे, प्रशसा मिलेगी या वाहवाही मिलेगी और अगर मैं अन्दर ही रह गया, तो मेरा परिवार जो है, वह किस हालत मे होगा, उसका क्या हाल होगा ? मर गया, तो मेरे शरीर का क्या होगा, मेरे परिवार का क्या होगा, मेरे बाल-बच्चे और अन्य परिवार वालों का क्या होगा और क्या नहीं होगा ? ऐसा कोई सकल्प या विचार मेरे मन मे नही आया। न इधर इस दुनिया का कोई ख्याल मेरे दिल मे था और न अगली दुनिया का ही।"

मैंने कहा तब तो ठीक तुम भगवान महावीर की भाषा में इस दुनिया को भी भूल गए और अगली दुनिया को भी

भूल गए अपने कर्तव्य की पुकार के आगे। केवल कर्तव्य ही तुम्हारे सामने खड़ा रहा। और इस तरह इस जन्म का मूल्य कर्तव्य के रूप में प्राप्त किया।

इसके विपरीत अगर यहाँ भी हिसाब लगाते रहे कि इससे क्या मिलने वाला है क्या मिला है तो इस प्रकार तो यहाँ पर कोई पहुँच ही नहीं पाता और इस तरह तो सूना साँचा पड़ा रहता जीवन का। ऐसे क्योंकि तो इस जीवन में भी परिवार, समाज और राष्ट्र में भी धर्म और परम्पराओं के क्षेत्र में और संस्कृति के क्षेत्र में भी हिसाब लगाते रहे और [illegible] लम्बे चौड़े पोथे लेकर बैठ जाते [illegible] सिद्धान्त का साँचा लेकर पकड़ रखा [illegible] तरह वे घूमते रहते हैं पर पहुँचते [illegible] लक्ष्य पर।

है। वह स्वार्थों के घेरे से बाहर निकल रहा है। उसकी मनुष्यता का प्रकाश, जो अनादि और अनन्त काल से तुच्छ स्वार्थों के घेरे में बन्द रहकर अन्दर-अन्दर पड़ा था, दबा हुआ था, उसकी वे महत्त्वपूर्ण चमकीली किरणे बाहर फैलना शुरू कर देती है और इससे उसके जीवन का कोना-कोना प्रकाश से चमक उठता है!

जा रहा है और उस शरीर के ऊपर एक प्रभाव डालता रहता है। इसको हम जैन-शास्त्र की परिभाषा मे तप कहते है।

लेकिन, हमे इस बात पर जरा गहराई से विचार करना है कि यह जो तप है हमारा, इस उपवास का मूल्य, उस उपवास की कीमत, और इस तपश्चर्या की जो कीमत है, वह केवल भोजन छोड देने मे या पानी न पीने मे है या कि वह मूल्य कही और जगह रह रहा है? इस बात का थोडा-सा विचार कर ले, तो अच्छा है।

जैन-धर्म के आचार्यों ने और महापुरुषो ने, जिनमे भगवान महावीर को भी आप ले सकते है और बाद के जो भद्रबाहु और स्थूलभद्र तथा दूसरे महान् आचार्यों की परम्पराएँ हमारे सामने आई है, उनको भी सामने रख सकते है। हम थोड़ी देर के लिए आजकल जिस रूप मे मान्यता चल रही है उसे छोड देते है। उसकी चर्चा बाद मे करेंगे। जैन धर्म का मूल दृष्टिकोण जो उन्होने तप के सम्बन्ध मे रक्खा है, पहले उसकी थोडी चर्चा कर लेते है।

तप का जो विश्लेषण किया जैनाचार्यों ने और स्वयं भगवान् महावीर ने भी, तो उन्होने तप के दो भेद किये है। एक बाह्य तप और दूसरा अन्तरग तप।

जिस प्रकार यह हमारा जीवन है, तो उसके दो रूप है। एक बाह्य जीवन और दूसरा अन्तरग जीवन। यह जो हमारा शरीर है, वह बाह्य जीवन है और इसके भीतर जो आत्मा खेल रही है, जिस आत्मा का प्रकाश इस शरीर के कण कण

ड रहा है, उतना ही बाह्य जीवन का महत्त्व है। पर, जब कि अन्तरग आत्मा की ज्योति बुझ जाती है, तब बाह्य जीवन का कोई महत्त्व नही रहता।

तप के सम्बन्ध मे भी ठीक यही बात है। भगवान महावीर ने तप का विश्लेषण करते हुए कहा कि तप भी दो तरह का होता है। एक बाह्य तप और दूसरा अन्तरग तप। बाह्य तप कैसा है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा तुमने भोजन छोड़ दिया है, पानी छोड दिया है और इस प्रकार निराहार रह रहे हो और निराहार रहकर इस शरीर पर एक प्रकार का प्रभाव डाल रहे हो, इन इन्द्रियो पर एक प्रकार का प्रभाव डाल रहे हो, मन पर प्रभाव डाल रहे हो और शरीर जो है, वह गिर रहा हो इस तप के सामने। यही उस बाह्य तप का रूप है।

और, अन्तरग तप क्या है?

जितने-जितने भाव शुद्ध आपके हो रहे है, जितने-जितने मन मे पवित्रता के विचार और सकल्प जग रहे है, जितना-जितना आपका राग कम हो रहा है या द्वेष कम हो रहा है और आपका जीवन जीव-मात्र के प्रति मैत्री भावना मे से गुजर रहा है, आपके जीवन मे एक स्फूर्ति, एक प्रकार का उल्लास और उच्च एव पवित्र विचार-धारा प्रवाहित हो रही है, जो महान् वैराग्य की लहर आ रही है जीवन मे, इसको कहते है अन्तरग तप।

अब विचार यह करना है कि इस बाह्य तप और अन्तरग तप मे से आत्मा की शुद्धि मे और आत्मा की पवित्रता मे

और आत्मा की ऊँचाई से सीधा सम्बन्ध किसका है? जो बाह्य तप है, वह प्रेरक तो जरूर है अन्तरंग शुद्धि में, पर बाह्य तप अन्तरंग आत्मा को पूर्ण रूप से जगाने में समर्थ नहीं है। और, वह अपने-आप में सीधा मोक्ष का हेतु भी नहीं है। वह अपने-आप में इतना स्थूल है कि वह आत्मा की पवित्रता में सीधा कारण नहीं बन पाता है। इसलिए बीच में कोई और माध्यम है। यह बाह्य तप अन्तरंग तप में निमित्त बनता है।

आत्मानुभूति बढती जा रही है, जीवन मे चारो ओर उल्लास और आनन्द बढता जा रहा है और एक आनन्द की ज्योति जीवन मे चारो ओर चमकती चली जा रही है, तो वह बाह्य तप आवश्यक है, वह बाह्य तप जीवन के लिए ग्राह्य है, और वह बाह्य तप हरेक साधक के लिए जरूरी है।

लेकिन, जब बाह्य त अन्तरग तप का साथ छोड दे, जीवन का उल्लास और आनन्द क्षीण होने लगे, जीवन के अन्दर प्रकाश और रोशनी, उत्साह और जागृति कम होने लगे और साधक इस प्रकार अन्तरग जीवन मे से निकल कर शरीर के साथ मे गडबडाने लगे और गिरने लगे। मन सकल्प-विकल्पो से भरने लगे और द्वेष पैदा होने लगे। जरा-जरा-सी बात पर मस्तिष्क गरम होने लगे, मैत्री भाव तजने लगे, मिजाज चिडचिडा होने लगे और यह विचार करे कि मैं जीवन की किसी शान के लिए नही जी रहा हूँ, तो समझना चाहिए कि बाह्य तप अन्तर्जीवन की तैयारियों के साथ मे अपना सम्बन्ध छोड रहा है और इस कारण से वहाँ बाह्य तप की सीमा समाप्त होने को आ जाती है। वहाँ बाह्य तप अपने ठीक रूप मे नही रहता है।

कल एक भाई ने प्रश्न पूछा था कि तप की सीमा क्या है? कहाँ तक तप करना चाहिए और कहाँ तक नही करना चाहिए?

तप की सीमा के सम्बन्ध मे तो ऐसी बात है कि हरेक साधक के लिए अलग-अलग सीमा है। क्योकि, किसी साधक

मै आपके साथ विचार कर रहा था कि यह जो शरीर हम मिला है। ये इन्द्रियाँ और मन, यह बुद्धि, और यह चेतना और यह एक विशाल जीवन जो हमें मिला है इस शरीर के रूप मे, तो आखिर, विचारे इस शरीर का क्या दोष है कि जो हम लट्ठ लेकर दौड़ पडते हैं इस पर और इससे हाथा-पाई करते है। वह विकार जो है, वह तो इसके अन्दर बैठा है।

अगर कोई साँप है, और वह बाँबी मे घुस गया है, तो बाँबी पर या साँप का जो बिल है, उस बिल के ऊपर लाठियाँ मारना कोई वीरता नही है। हाँ, अन्दर के साँप को बाहर निकालने के लिए और खडका करने के लिए अगर दो-चार लाठियाँ मार भी दी जाएँ, तो यह तो ठीक है। हमारी लड़ाई बाँबी से नही, साँप से है।

हृदय यह भी बिल है और मन यह भी बिल है। यह ठीक है कि अन्दर जो विकार है, वह चाहे क्रोध के रूप मे हो, अभिमान, माया लोभ या वासनाओ के रूप मे हो। जो भी विकार है, वह विकार-रूपी साँप अन्दर बैठा है, तो उस विकार के ऊपर प्रहार करने के लिए और जरा उसको बाहर मे लाकर उससे मुकाबला करने के लिए इस शरीर पर नियन्त्रण करना, इसको साधना यह हमारा काम है, इस को साधना यह हमारा काम है। पर, उनको मारना, यह हमारा काम नही है।

कुछ लोग समझते है कि शरीर अगर किसी का बलवान है, तो उसे दुर्बल बनाएँ, उसको कमजोर बनाएँ। शरीर किसी का बलवान् मिला है। वह अगर बलवान रहे, तो मुझे क्या

तो शरीर को निर्बल बनाना, अशक्त बना देना, उसे पगु बना देना और ऐसी हालत मे लाकर पटक देना कि समय पर अगर कोई दु ख आ जाए, तो उसको भी सहन करने की क्षमता न रहे। इधर-उधर दो-चार धक्के लगे कि लडखडाने लगे। ठीक तरह से काम करने की क्षमता न रहे, जीवन की यात्रा को ठीक तरह से तय करने का सामर्थ्य न रहे, तपश्चर्या के बाद वह निढाल और निराश बन कर जीवन के सघर्ष की लडाइयो मे मजबूत होकर काम न कर पाए, वह केवल निर्बल और मुर्दा विचारो का, लाशों का ढेर बनकर रह जाए और इस तरह निराश होकर अपने जीवन के रहस्य को समझ न सके, उसके उद्देश्य को भूल जाए, तो यह शरीर को मारना है, साधना नही है।

कल्पना करो, किसी के पास एक घोडा है। है तो वह बहुत अच्छा और मजबूत। उसकी बडी तेज चाल है। वह बहुत चचल है। और, इतना समर्थ है कि निरन्तर हरकत मे रहता है। उस पर सवार जब बैठे, तो बैठने न दे और जरा बैठ भी जाए किसी तरह, तो ऐसी पटक मारे कि सवार को नीचे गिरा दे। अगर इतना तेज घोडा किसी को मिल गया है, तो उस हालत मे सवार को रोना चाहिए या हँसना चाहिए? चुप क्यो है? बोलिए, क्या करना चाहिए?

अगर किसी को मजबूत घोडा मिला, सशक्त घोडा मिला, और इतना स्फूर्त और चेतनाशील घोडा मिला कि उसमे इतना बल और शक्ति है कि जो हवा से बाते करता है और हवा के वेग से दौड़ता है। इतना सशक्त है कि जो सवार बैठना चाहता

है, तो बैठने नहीं पाता उस पर और अगर कोई बैठ भी जाता है, तो जिस तीव्र गति से वह चल सकता है, उससे सवार संभल नहीं सकता और गिर जाता है तो उस सवार को रोना चाहिए या हँसना चाहिए ?

मैं समझता हूँ कि उसे उस घोड़े पर नहीं बल्कि उस पर चढ़ नहीं सकने की अपनी निर्बलता पर रोना चाहिए। बोलिए, आप उसकी निर्बलता पर रोएँगे या हँसेंगे ?

घोड़े को साधना तो हमारा काम है। अगर वह इतना चंचल है कि ठीक गति के अन्दर काम करने की उसकी क्षमता नहीं है। बाजार में गया और जरा बाजा बजा कि रोग भड़क गया। जरा इधर उधर छैल-छबीली चीजें मिलीं और भड़क गया। बाजार में मोटर का हार्न बज जाए, तो बेकाबू हो जाए। अगर यह स्थिति है और बैठने नहीं देता है, तो उस समय बुद्धिमत्ता का काम यह है कि उस घोड़े को मारना नहीं, साधना चाहिए। अगर उस समय उस घोड़े को मारने लगे, और मार-मार कर उसका कचूमर निकाल दे, घोड़ा बिलकुल मुर्दार हालत में चला जाए और उस वक्त कहे कि अब ठीक हो गया है काम, तो इस प्रकार घोड़े की लाश पर बैठकर शान्ति की माला जपना, यह जैनधर्म का आदर्श नहीं है।

इस सम्बन्ध में मैं बात कह रहा था कि वह तप तप नहीं है, जो एक प्रकार से जल्दी-से-जल्दी मरने के लिए किया जाता है। जीवन में पाप है, दुःख भी है और क्लेश भी भरे पड़े हैं। आपत्तियाँ भी हैं। संसार में चारों तरफ एक प्रकार का जीवन-संघर्ष चल रहा है और चारों तरफ से जीवन में पाप समाना

चला जा रहा है। इसलिए एक आदमी अगर यह विचार करे कि चूँकि ससार मे रहते हैं, इसलिए पाप लगता है, जीवन अपवित्र होता चला जा रहा है, इसलिए जल्दी-से-जल्दी इस ससार का पिंड छोड दे। इस कारण शरीर का भी उसे भान न रहे और जीवन की समस्याएँ किस रूप मे आ पडी हैं, इसका भी ध्यान न रखे और चूँकि ससार मे रहना पापमय है, इसलिए मरने के लिए तैयार हो जाए। जैसे कि पुराने कुछ लोग जल की समाधि ले लेते थे, अग्नि की समाधि ले लेते थे, पहाडो पर से गिरकर आत्म-हत्या कर लेते थे। इस प्रकार, कुछ पुराने लोग अपने शरीर पर भी बलात्कार किया करते थे और तपस्या के नाम पर भूख हडताल करते थे। ऐसा करते-करते समय से पहले ही मरने के लिए तैयारियाँ करते थे और एक दिन मर जाते थे बिचारे। वे सोचते थे कि अगले जीवन मे शान्ति मिलेगी।

मैं ऐसे तप का विरोध करता हूँ। क्योंकि इस प्रकार का तप करना, यह जैनधर्म का आदर्श नहीं है। आखिर, जीवन तो यहाँ भी है और आगे भी है। शरीर यहाँ पर भी है और आगे भी है। तो, हमारा सिद्धान्त यह होना चाहिए कि हम शरीर को साधे, उसे मारे नहीं।

शरीर भी एक प्रकार का घोडा है और आत्मा उसका सवार है। अगर किसी को घोडा मजबूत मिला है, अच्छा मिला है, अच्छी स्फूर्ति वाला मिला है और इतना तेज मिला है कि वह आत्मा को उस पर सवार न होने दे, तो ऐसी हालत में अगर तुम गडबडा जाते हो, तो शरीर को साधे और

इसे साधने के लिए बाह्य तप करना चाहिए। अनशन, ऊनोदरी आदि तप करना चाहिए। ये सब-के-सब तप मूल में केवल साधन मात्र रहें और इस प्रकार शरीर को जीवन देने के लिए रहें, इसे साधने के लिए रहें।

जब कभी विकट समय आ पड़े आपके सामने, तो उस समय आपको सम्भव है किसी दिन खाना मिले या न मिले। पर, आपकी तैयारी इतनी अच्छी रहे कि उस समय आप भूख के पीछे पागल बनकर न्याय और अन्याय का विचार न छोड़ बैठें और उस हालत में, इस शरीर की गुलामी में रो-रो कर जीवन गुजारने की अपेक्षा उस भूख को सहन कर सकें, प्यास को सहन कर सकें और इसी प्रकार से सर्दी और गर्मी को सहन कर सकें। इसी प्रकार शरीर को और भी जितनी भी व्याधियाँ और आपत्तियाँ हों उन्हें ठीक रूप से सहन करने की शक्ति आप में आए, इसके लिए बाह्य तप जीवन में अत्यन्त आवश्यक है।

तो, मैंने आपसे कहा कि तप के सम्बन्ध में, जैनधर्म का जो दृष्टिकोण है, वह यह है कि इस शरीर को केवल तपाना ही हमारा लक्ष्य न हो। इसे तो अपने नियन्त्रण में लेना है, इसके ऊपर शासन करना है। जिस समय जैसा हम चाहें, उस समय वैसा ही हमारा शरीर सुख में, दुःख में आनन्द में रह सके। सर्दी-गर्मी और भूख-प्यास जैसी कोई भी स्थिति क्यों न हो, उस समय भी हमारा मन गुलाम बनकर नहीं, ठीक रूप में जीवन का मालिक बनकर रह सके, शरीर का मालिक बनकर रह सके। यह स्थिति पैदा कर देना, यह है हमारे बाह्य तप का

उद्देश्य। और ऐसा तप ही हमारे जीवन के कल्याण का मार्ग है, विकास का मार्ग है। अगर हम इस विकास के मूल और सूक्ष्म दृष्टिकोण को भूल जाते है, तो जीवन मे कुछ भी नहीं रहता है।

भगवान् महावीर के साधनामय जीवन पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो तप का महत्त्व हमारी आँखो के सामने घूमने लगता है। वे साढे बारह वर्ष तक घनघोर तपस्या करते हैं और ऐसा मालूम पडता है कि वे अपने जीवन को, अपने शरीर को निरन्तर तपस्या की आग मे झोकते चले जा रहे है। वे इतनी कठोर तपश्चर्या करते चले जाते हैं कि आप सकपका जाते है कि ऐसा क्यो कर रहे हैं? एक तरफ तो भगवान महावीर थे और एक तरफ भगवान् मल्लिनाथ थे। भगवान् मल्लिनाथ का तो जो केवलज्ञान हुआ, वह उनके दीक्षित होने के एक पहर के बाद ही हो गया। दीक्षा ली और उसके कुछ घटो बाद ही केवलज्ञान हो जाता है। दिन भी पूरा नहीं गुजरता है। लेकिन, भगवान् महावीर को साढे बारह वर्ष के घनघोर तपस्यामय जीवन के बाद केवलज्ञान प्राप्त होता है। और दोनो ने अपने जीवन की यात्रा कहाँ से शुरू की? दोनो ने एक ही जगह से यात्रा शुरू की। जैनधर्म की मर्यादा के अनुसार दोनो ने यात्रा शुरू की चौथे गुणस्थान से।

जैनधर्म की मान्यता के अनुसार तीर्थंकर चौथे गुणस्थान से अपना जीवन प्रारम्भ करते है और तेरहवे गुणस्थान पर जाकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी तरह भगवान् महावीर भी चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ करके अपनी आत्म-साधना

करते हैं और तेरहवें गुणस्थान पर पहुँच कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। यही क्रम भगवान मल्लिनाथ का रहा। दोनों ही तीर्थंकर हैं, महापुरुष हैं। दोनों ही जीवन की पवित्रता के अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचे हैं।

इस हालत में, हम देखें कि दोनों के मार्ग अलग हैं या कि एक ही है? तीर्थंकर जो कि तेरहवें गुणस्थान में जाकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वहाँ भगवान मल्लिनाथ का मार्ग और है और भगवान महावीर का मार्ग और है, यह कुछ बात अलग अलग है क्या? बाहर में यह बात भले ही अलग-अलग नजर आ रही हो, पर अन्तरंग में तो एक ही है। एक ही रास्ते से वहाँ पहुँचे हैं, अलग-अलग रास्ते से नहीं पहुँचे हैं। फिर भी, यह अन्तर और भेद क्यों है?

जैनाचार्यों ने इसका समाधान किया है। उन्होंने कहा है कि निश्चय ही भगवान मल्लिनाथ को इतनी तपस्या नहीं करनी पडी। परन्तु, भगवान महावीर को इतनी तपस्या करनी पडी। इसके लिए सूत्रकारों ने भगवान महावीर के पिछले सत्ताईस जन्मों का निरूपण किया है। उन जीवनों में भगवान महावीर किस-किस प्रकार के संस्कारों में रहे हैं, किस प्रकार से उन्होंने जीवन गुजारे हैं और कैसे-कैसे कर्म तथा अकर्म कर्म किये हैं—यह सारा नक्शा हमारी आँखों के सामने आ जाता है उनकी जीवन-गाथाओं को पढ़कर।

इतनी घोर तपस्या उन कर्मों का नाश करने के लिए करनी पड़ी, जब कि भगवान् मल्लिनाथ के पुराने जीवन के कर्मों का इतना बाहुल्य नहीं था और इसी कारण उनकी आत्मा की तैयारी ज्यादा थी, अत वह जल्दी प्रगति कर सके और भगवान् महावीर की आत्मा की तैयारी इतनी नहीं थी, इसलिए उन्हें लम्बी तपस्या का लम्बा रास्ता लेना पडा।

मै जिक्र कर रहा था कि भगवान महावीर के पिछले जीवन, उनके पिछले भव इतने क्रूर रहे हैं कि उन्हे पढकर आज हम भी दाँतो तले उँगली दबाकर रह जाते हैं कि क्या एक मानव इस प्रकार का निर्दय जीवन-यापन कर सकता है ? उस निर्दयता की कल्पना करना भी हमारे लिए मुश्किल है आज के इस युग मे।

भगवान् महावीर के पिछले जीवन का जो विश्लेषण जैनाचार्यों द्वारा हमे मिलता है, उससे पता लगता है कि भगवान् महावीर अपने किसी पिछले जीवन मे एक सम्राट् थे। सोने के महलो के अधिपति थे। ससार-भर का बल, वैभव और ऐश्वर्य उनको घेरे हुए था और इसके साथ अहकार, क्रोध, असीम विलासिता और असीम निर्दयता भी उनके जीवन मे समाई हुई थी। एक दिन बाहर से उनकी नगरी मे ऊँचे दर्जे के गवैये आये और रात्रि को गाने-बजाने का एक प्रोग्राम चला। काफी रात्रि तक गाना-बजाना होता रहा। जब निद्रा का समय हुआ, तो उन गायकों को विदा कर दिया गया। और, सम्राट् सो गये अपने महल मे।

वे गाने वाले दूर देश से आये थे और काफी प्रसिद्धि उनके गाने-बजाने की थी। जब वे महल से विदा होकर जा रहे थे, तो

दो द्वारपाल, जो कि महलों के संरक्षक थे, पहरेदार थे, उन्होंने कहा उन गवैयों से कि 'सम्राट तो गाना हमेशा ही सुनते हैं। पर, हम तो ड्यूटी पर रहते हैं। हमें कभी गाना सुनने को नहीं मिलता है। आपका गाना बड़ा सुन्दर है इसलिए हम भी सुन लें जरा।

उन गायकों ने कहा हमें आज्ञा मिल गई है सम्राट् की विदा होने के लिए। आज का हमारा प्रोग्राम समाप्त हो गया है, इसलिए आज तो हम अब नहीं गाएँगे।

उन पहरेदारों ने कहा जरा ठहर जाओ। आज्ञा तो मिल गयी है। पर, हमको भी एक गाना सुनाते जाओ। जरा हल्के ढंग से ही गाओ। सिर्फ हम ही सुन सकें, सम्राट तक आवाज न जाए और उनकी नींद में कोई खलल न पड़े।

उन्होंने गाने पर जोर दिया और गाना शुरू हो गया।

सम्राट नींद ले रहे थे और नींद लेते-लेते जरा-सी नींद खुली, तो ध्यान आया कि कहीं से हल्की हल्की गाने की आवाज आ रही है, कहीं धीरे-धीरे गाना हो रहा है।

यह गाने की आवाज कहाँ से आ रही है—सम्राट् ने नौकर से पूछा।

उसी समय आदमी गये। मालूम किया और लौटकर सूचना दी कि जो गायक यहाँ से विदा होकर गये हैं, उन्हीं से सम्राट् के दो द्वारपाल गाना सुन रहे हैं।

बस, इतनी बात सुननी थी कि सम्राट् के मन में एक अभिमान की आग जल उठी और बोल उठे हमारी आज्ञा

की अवहेलना किस तरह से की जा रही है ? इस तरह उनके मन मे अहंकार, क्रोध और हिंसा का जहर उबलने लगा और उसी समय उन्होंने कहा गायक को विदा करो और द्वारपालों को सजाए मौत की कैद मे डाल दो। कल उनका फैसला किया जाएगा।

अगले दिन सम्राट् जब फैसला करने बैठे, तो द्वारपालों से कहा देखो, तुम हमारे नौकर हो, स्वामी नही। तुम्हारा काम सेवा करने का है, हमारी आज्ञाओ को पालन करने का है। हमारी आज्ञाओ की अवहेलना करने का तुम्हारा काम नही।

सम्राट् ने आगे कहा मै तुम से यह पूछूँ कि हमारी आज्ञा तो तुम्हे अच्छी नही लगी, लेकिन गवैयो का गाना तुमको अच्छा लगा। तो, ये तुम्हारे कान तुम्हारे अधिकार मे नही रहे और तुम्हारे कान इतने बेकाबू हो गये है कि वे हमारी आज्ञा को नही सुन सकते, दूसरो का गाना सुन सकते हैं ?

राजा की तरफ से आज्ञा हुई कि तपा हुआ और उबलता हुआ शीशा इनके कानो मे उँडेल दिया जाए।

शीशा गरम हुआ और आग की तरह से वह लाल सुर्ख हो गया। जब वह पिघलकर और आग का रूप लेकर इस भयानक स्थिति मे पहुँचा, तो दोनो पहरेदारो के कानो मे वह उबलता हुआ शीशा डलवा दिया गया। बिचारे उन सेवको की वही तडप-तडप कर मृत्यु हो गयी।

ये चीजे आप जब कभी पढते हैं, भगवान महावीर के अनन्त करुणामय जीवन से और दया एव प्रेम के रस से लबालब जीवन के साथ इस क्रूर और निर्दयी जीवन की जब

कभी तुलना करते हैं, तो विचार आता है कि क्या भगवान् महावीर की आत्मा भी इतनी निर्दयी और संस्कार-हीन हो सकती है? दण्ड तो दिया जा सकता है, पर इस दण्ड की सीमा क्या वह नहीं जानते थे? अगर कोई गलत काम करता है, तो सम्राट् की आज्ञा के अनुसार उस गलती का प्रायश्चित्त किया जा सकता है। पर क्या दण्ड का यह रास्ता है कि उबलता हुआ शीशा कानों में डाल दिया जाए और वे बिचारे छटपटा कर अपनी जीवन-लीला ही समाप्त कर दें और सम्राट् कोरी हंसी हंस कर रह जाए? यह कोई सिद्धान्त है, कोई तरीका है दण्ड देने का?

जीवन की ये सारी कहानियाँ, ये सारे जीवन के पन्ने, भगवान ने संसार के सामने रखे। और उन पर अपने विचार रखे, दृष्टिकोण रखे। किसको क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, ये सारी बातें रखीं। उन्होंने अपने वर्तमान जीवन की महत्ता और पुराने जीवन की कालिमा, सभी उस संसार के सामने रख दी और यह कहा कि कैसा-से-कैसा भी कोई पापी क्यों न हो और कैसा-से-कैसा निर्दयी भी कोई प्राणी क्यों न हो, अगर वह जागता है और उसको ठीक-ठीक प्रकार से अपने जीवन का विकास करने का मौका मिलता है अपनी उन भूलों का प्रायश्चित्त और संशोधन करने के लिए अगर उसकी तैयारी है तो एक दिन ऐसा जरूर उसके लिए आएगा कि उसके पापमय जीवन में उसके उस भयंकर और निर्दय जीवन से भी उस समय अनन्त करुणा का सागर लहरा सकता है।

तो, मैंने कहा कि भगवान महावीर का पुराना जीवन कोई अच्छे संस्कारों का जीवन नहीं था। उनके जन्म-जन्म के संस्कार

इस रूप मे चले आ रहे थे कि जिनको हम कर्म कहते हैं, दोष कहते हैं। जिनको कि हम आत्मा की मलिनता कहते हैं और अपवित्रता कहते हैं। उन कर्मों से बारह वर्ष तक कठोर साधना द्वारा भगवान् महावीर को सघर्ष करना पडा। उन्हे अपने उन सस्कारो से लड़ना पड़ा, युद्ध करना पडा।

कुछ लोग बाहर के इस तप को देखकर उसी को महत्त्व दे देते हैं। अन्तरग तप को भूल जाते हैं। लेकिन, भगवान् के जीवन मे इस तप के साथ-ही-साथ अन्तरग तप इतना विलक्षण और महत्त्वपूर्ण था, उनका चिन्तन और मनन इतना गहरा था कि उनको उसमे महीने-के-महीने हो जाते थे, तो भी भूख और प्यास को वे भूल जाते थे और चिन्तन की गहराई मे डुबकियाँ लगा जाते थे।

परन्तु, शरीर मे रहकर और शरीर का ध्यान न रखकर, भूख का ध्यान न रखकर केवल शरीर के साथ मारामारी करना, उनका उद्देश्य नही था। पर, जब ध्यान लगा कर खडे हो जाते थे, चिन्तन मे तल्लीन हो जाते थे, और आत्मा के दोषो का निवारण और विकारो का विनाश करते हुए अपने मन की स्थिति पर जब गहराई मे विचार करने लगते थे, उस समय उनका शरीर कहाँ खडा है, किस स्थिति मे है, भूखा है या प्यासा है, इसका ध्यान नही रहता था उन्हे। भूख लग रही है कि नही, इसका भी पता नही। प्यास लग रही है कि नही, इसका भी उनको कोई खयाल नही। वह महान आत्मा अपने कर्मों का विनाश करने मे, अपने दोषो को छिजाने मे, अपने पुराने सस्कारो को खत्म करने मे और अपने

उन पुराने कर्मों का बोझ, जो इकट्ठा हो गया था, उसे उखाड़ फेंकने के लिए आत्म-चिन्तन की गहराई में इतनी दूर तक चले जाते थे कि महीना दो महीने भी हो जाते थे, तीन-तीन, चार-चार महीने हो जाते थे, लेकिन उस समय उनकी जो क्षमता थी, वह कम नहीं हो पाती थी। आध्यात्मिक आनन्द, आन्तरिक उल्लास और अन्तःस्फूर्ति निरन्तर बढ़ती रहती थी। उनके जीवन की ज्योति प्रखर होती जाती थी।

तो, मैं अपनी बात कह रहा था आपसे कि बाह्य तप के जितने भी उदाहरण हैं हमारे सामने, उनके साथ-साथ आभ्यन्तर का जो जीवन है, प्रकाश है, वह भी देखा जाना चाहिए। इस तरफ भी हमारा ध्यान जाना चाहिए। किन्तु हमारा मन बाह्य रूप में ही अटक कर नहीं रह जाना चाहिए।

बाह्य तप के साथ कुछ लोग मखौल भी करते हैं। उसकी मजाक उड़ाते हैं। और कहते हैं कि हम तो अन्तरंग जीवन की गहराई में हैं, आभ्यन्तर तप के साथ में हैं, इसलिए हमें बाह्य तप की जरूरत ही नहीं है।

लेकिन, शास्त्रकार कहते हैं कि जब तुम्हारी साधना मुकम्मिल हो जाय तो उस समय तुम्हें भले ही बाह्य तप की जरूरत न हो। पर, जब तक जीवन की भूमि का नीची है, तब तक उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। तुम अपने जीवन को देखो। उसमें कितना क्रोध, अहङ्कार और वासनाएँ भरी पड़ी हैं? खाना खाने के लिए जब बैठते हो तब तुम्हारा कितना संयम रहता है? अगर नमक जरा कम या ज्यादा हो गया है, तो पत्नी पर बरस पड़ते हो। जरा देर से घर पर पहुँचे

और भूख जोर से लगी हुई हो, तो उस समय जरा रोटियाँ बनाने में, या कि साग बनाने में या कि अमुक चीज के बनाने में जरा देर है, तो तुम्हारा माथा ठनकता है, गुस्सा आता है और दो-चार जली-कटी सुना डालते है पत्नी को कि हम तो मरे जाते है भूख के मारे और तुम क्या करती रहती हो इतनी देर तक ?

मैं समझता हूँ कि ऐसे आदमी को और ऐसे विकारशील आदमी को त्याग और तप की साधना के द्वारा जीवन में कम-से-कम इतनी बात तो लानी ही चाहिए कि अगर भोजन के तैयार होने मे जरा देर हो रही है और उसे भूख लग रही है, तो अपने-आपको जरा ठीक रूप मे पकड सके, अपने को इधर-उधर न होने दे। अपने आप पर नियन्त्रण कर सके। अपने मन मे भी और हृदय मे भी कोमलता के भाव रख सके। और, यह सब तप के बिना सभव नहीं है।

जो व्यक्ति जरा-सी देर मे भी भडक सकता है, माताओं तक से लड सकता है, अगर यह प्रवृत्ति है जीवन मे, तो जरा विचार करने की जरूरत आ जाती है। ठीक समय पर कहीं मेहमान बनकर गये और कोई पानी का गिलास माँगा। पर, लाने मे जरा देर हुई, तो इतनी-सी बात भी बरदाश्त न कर सके और सामने वाले का अपमान कर दे। उसको सारी जिन्दगी भर याद रक्खे। जहाँ कहीं जाए, उसकी बुराई करे, तो ऐसे व्यक्ति को तो बाह्य तप के द्वारा अपने को साधना ही पड़ेगा।

भोजन करने बैठे और रोटी जरा गुदगुदी रह गई, तो भड़क जाए और कहने लगे कि यह तो कच्ची रोटी ही डाल

दी है और गुस्से में आकर थाली ही फेंक दे तो विचार करना पड़ेगा कि जिस को इतना-सा भी नियन्त्रण अपने मन पर नहीं, अपनी इन्द्रियों पर नहीं, उसका क्या किया जाय? जरा-सी रोटी कड़ी हो जाती है तो कहता है कि रोटी को तो जलाकर ही रख दिया है। ऐसा आदमी अपने पर कुछ भी नियन्त्रण नहीं रखता है, तो मैं समझता हूँ कि उस व्यक्ति को अपने जीवन के विकास के लिए और अपने जीवन को सुधारने के लिए बाह्य तप को स्वीकार करना ही चाहिए। उसके लिए अनशन तप बड़ा आवश्यक है उसके लिए उपवास बेला तेला और चोला करना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वह मालूम कर सके कि इस संसार में [illegible] नहीं लगती है दूसरों को भी भूख लगती है। और [illegible] को भूख लगती है, तो उन को भी कितनी वेदना होती [illegible]? जरा-सी वेदना से तू अपनी सहज स्थिति [illegible] और तू अपने जीवन में परम सहनशीलता को प्राप्त नहीं कर [illegible] है, तो फिर दूसरे के सामने भी जीवन की कैसी [illegible] हो सकती है?

किसी भी रूप मे मौज-मजे ही करने के लिए तैयार रहे
इस प्रकार जीवन को भोग-विलास मे डालते जाना, यह
एक अतिवाद है।

तो, दोनो जीवनो के बीच की सीमा मे हमे मीटर रख
है। न इधर अति कीजिए, न उधर अति कीजिए।

एक तरफ वे लोग है, जो भोग-विलास मे अति कर रहे
सुवह देर से उठते हैं, तो उठते ही खाने के लिए आवाज लग
हैं और रात को सोने के आखिरी घटे तक भी कुछ-न-कु
पेट मे उडेलते रहते है। दिन-भर बैल की तरह, जानवर
तरह चरते रहते है और रात की नीद के बाद जब जागे,
फिर वही हाहाकार है खाने का! समय पडने पर घटे-दो-घटे
देर भी वरदाश्त नही कर सकते। जरा इधर-उधर किसी के य
मेहमान बनकर जाएँ और मेहमानदारी मे जरा-सी भी देर
जाए, इधर-उधर जरा-सा भी फरक डाल दिया जाए उन
मेहमानदारी मे, तो वहाँ भी गडबडा जाएँ।

इस तरह जिनका जीवन निरकुश है, सयमी नही है, खाने
और पीने के लिए ही महदूद हो गया है अपने आप मे। ससार
मे पेट भरना और सास लेना ही इस जीवन का जो लक्ष्य
समझ कर चल रहे है, तो जैन-धर्म उनसे कह रहा है कि इस
प्रकार का भोग-विलास वाला यह 'अतिवाद' का जीवन है,
और साधक को इस चीज पर नियन्त्रण रखना है।

दूसरी तरफ, वे तपस्वी लोग हैं और भगवान पार्श्वनाथ के
युग के वे योग के साधक हैं, जो घोर तपस्या के द्वारा अपने
विकार-वासनाओं से लडकर जीवन की पवित्रता को, जीवन के

आनन्द और उल्लास को तो प्राप्त नहीं कर सके, पर यह समझ बैठे कि शरीर से लड़ना है और यही तप का लक्ष्य है। और, अपने-आप को समाप्त करने में लग गए। भगवान महावीर ने कहा कि यह भी गलत रास्ता है। यह भी सही रास्ता नहीं है जीवन का।

ऐसी भी साधना के उदाहरण मिलते हैं महाभारत में कि एक ऋषि जा रहा था। तपस्वी था। जाते हुए रास्ते में उसे भूख लगी। रास्ते में किसी का बाग पड़ता था। उस बाग में से उस तपस्वी ने कुछ फल तोड़े और फल तोड़कर खा लिए। खाने के समय कुछ तपस्वियों ने उसे टोक दिया। फल खा लेने के बाद वे तपस्वी कहने लगे अरे, तुमने तो बहुत बड़े गुनाह की बात की है और तुमने तो अपने जीवन में बहुत बड़ा पापाचरण कर लिया है फलों की चोरी करके। इसका परिणाम यह हुआ कि उस तपस्वी को अपने दोनों हाथ कटवा देने पड़े। क्योंकि, हाथों ने पाप किया है, इसलिए इनको कटवा दिया गया।

आँखें गरम-गरम शलाखाएँ घुसेड कर फोड डाली और आखिर, वह अन्धा होकर बैठ गया।

इसी तरह पैरों ने कुछ गड़बड की, तो पैरों को कटवा दिया। हाथों ने कोई गडबड़ की, तो हाथ कटवा दिये और आँखों ने कुछ गडबड़ की, तो आँख फोडकर बैठ गये। इस प्रकार इस शरीर को तोड-मरोड़कर रख दिया और इस शरीर पर इतना बलात्कार भी किया, पर तब भी जीवन का सही आनन्द और जीवन की पवित्रता नहीं मिली। यह जीवन की पवित्रता हाथों को कटा डालने से, पैरों को तुडवा देने से या आँखों को फुड़वा बैठने से नही आती। क्योंकि, बाहर से कोई चीज अन्दर नही जा रही है, किन्तु अन्दर से बाहर आ रही है।

मैं कह रहा था आप से कि तप के सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने बाह्य तप और अन्तरग तप, ये जो दो भेद किए हैं, ये भेद सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इतने महत्त्वपूर्ण किये हैं कि इनको हम ठीक रूप मे सोचे, विचारे और मनन करे, तो बाह्य तप के लिए अन्तरग तप जरूरी मालूम पड़ेगा और अन्तरग तप के लिए बाह्य तप जरूरी नजर आएगा। साधक को दोनों मे समन्वय करके चलना चाहिए। जब दोनो का समन्वय होता है, तो भोग-विलास की 'अति' अपने-आप टूट जाती है और कठोर बाह्य तप की 'अति' भी टूट जाती है।

हमारे सामने एक महान् सन्त की वाणी है। उस सन्त से पूछा गया जीवन मे कैसे रहा जाय? हम जब जीवन की यात्रा शुरू करते है, तो इधर चले कि उधर

चलें ? त्याग मार्ग पर चलें और निरन्तर त्याग-तपस्या में हम अपने जीवन को होमते चलें कि इस संसार में रहकर खाने-पीने और मौज-मजा करने को ही इस जीवन की आवश्यकता-पूर्ति मानकर इस तरफ चलें ? किधर जाएँ ?

सन्त ने एक सुन्दर रूपक में अपना उत्तर देते हुए कहा देखो, तुम वीणा बजाते हो न ? और जब वीणा बजाते हो, तो वीणा के तार होते हैं। उनके सम्बन्ध में क्या सिद्धान्त है, जानते हो ? वीणा के जो तार हैं, उन सबों को अगर इतना कस दिया जाए और इतने जोर से कस दिया जाए कि उनके अन्दर लोच न रहे और इस हालत में अगर कोई वीणा बजाने बैठे, तो स्वर निकलेगा क्या ? कोई मधुर और निठाम की आवाज आएगी क्या उनमें से ? तार नहीं रहने के कारण और उन तारों को अत्यन्त कस देने के कारण कोई भी स्वर उनमें से फूटेगा नहीं और कोई भी स्वर की झनकार पैदा नहीं होगी उस वीणा में से।

चाहिए। तभी वीणा के तारों में से मधुर स्वर की झनकार निकलती है।

यही बात हमारे जीवन में भी ठीक बैठती है। जीवन के तारों को कसना भी जरूरी है, लेकिन कसने की भी सीमा है। इसी प्रकार से तारों को ढीला रखने की भी जरूरत है, लोच के लिए; लेकिन ढीला रखने की भी एक सीमा है। न तो कसने में अति करें और न उनको ढीला करने में अति करें। इस हालत में वीणा का स्वर बजाना चाहेंगे आप, तो बज जाएगा।

मनुष्य का जीवन भी एक वीणा है। उसमें से कर्तव्य के स्वर हमें बजाने हैं और वह जीवन की वीणा की झनकार हमें अपने जीवन में पैदा करनी है।

लेकिन, कुछ लोग ऐसे हैं, जो जीवन को कस लेते हैं और इतना कस लेते हैं कि उसके अन्दर कोई लोच नहीं रह जाता भावनाओं का। उस जीवन की वीणा के स्वर बजने बन्द हो जाते हैं। और कुछ लोग भोग और विलास में इतने फँसे होते हैं, इस जीवन की वीणा को इतना ढीला कर देते हैं, संसार के आचार-विचार को इतना ढीला कर देते हैं कि शरीर लड़खड़ा जाता है। और, वह लथड़ा हुआ जीवन गलत जीवन बन जाता है। उसमें से भी जीवन का राग फूटता नहीं है, जीवन की वीणा के स्वर बजते नहीं हैं, वह जीवन भी किसी काम का नहीं रहता।

इसलिए, जीवन को आप कसें भी त्याग और वैराग्य की साधना के मार्ग पर चलकर; लेकिन साथ ही इस शरीर की

कुछ आवश्यकताएँ हैं, इस वीणा की कुछ आवश्यकताएँ हैं। क्योंकि हैं, तो उसकी भी कुछ आवश्यकताएँ हैं परिवार की भी कुछ जरूरतें हैं, समाज की भी जरूरतें हैं। इस शरीर की जरूरत भी होती है। इसे टिकाने के लिए, इन इन्द्रियों को बनाए रखने के लिए और मानसिक तृप्ति के लिए सामाजिक जीवन के क्षेत्र में काम करने के लिए, धार्मिक जीवन में और राष्ट्रीय जीवन में काम करने के लिए कुछ प्रयत्न करते हैं, तो वहाँ पर वीणा के तार ढीले भी रखते हैं।

इस प्रकार त्याग और भोग, निवृत्ति और प्रवृत्ति, इन दो जीवनों के बीच में से तुम्हारे जीवन का मार्ग जा रहा है। इस हालत में तुम्हारे जीवन में पवित्रता भी आनी चाहिए। तुम्हारे अन्दर संसार की वासनाओं को ठुकराने की क्षमता भी आनी चाहिए। तुम्हारे जीवन में भोगों से लड़ने की तैयारी भी चाहिए। साथ ही, समय पड़ने पर कर्म भी करें, पुरुषार्थ भी करें। गृहस्थी के क्षेत्र में, परिवार के क्षेत्र में समाज के और राष्ट्र के क्षेत्र में इनका पालन-पोषण करने के लिए और सभी का पालन-पोषण करने के लिए इस शरीर को भी रखिए।

मे समझें, तो जीवन की सही दिशा का पता आप लगा सकते हैं। पर, फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं, जिनका नये सिरे से हमे चिन्तन करना है। इस चिन्तन मे से ही जीवन का प्रकाश चमक कर ऊपर आता है। जिससे इस दुनिया का भी अंधेरा मिट जाता है और अगली दुनिया का भी अंधेरा मिट जाता है। और, जीवन का कोना-कोना प्रकाश से चमक उठता है!

और किस रूप मे आ रहा है? उस सकल्प के द्वारा हमारा मन पवित्र, साफ या निर्मल हो रहा है कि नहीं हो रहा है? हमारे जीवन के अन्दर और जीवन के सघर्षों के अन्दर वह हमे मजबूती के साथ लडने की प्रेरणा दे रहा है कि नही दे रहा है? इस पर हमे विचार कर लेना चाहिए। इसी को शास्त्रो की भाषा मे शुभ सकल्प और अशुभ सकल्प कहा है। इमी को हमारी और पुरानी भाषा के अन्दर पाप और पुण्य कहा है।

मैं आपसे विचार कर रहा था कि जीवन के अन्दर मनुष्य मे जब शुभ सकल्प आते है, शुभ सकल्पो की भावनाएँ आती हैं, तो उस समय सोये हुए मनुष्यता के भाव जागृत हो जाते हैं, अन्दर में सोई हुई ईश्वरीय शक्ति उठ खडी होती है, और इस मिट्टी के पिण्ड में, हड्डियो और मास के इस ढेर मे—जिसका मूल्य ससार मे कुछ भी नही है—आत्माएँ चमक उठती हैं। और, उन आत्माओ का प्रकाश इतना ऊँचा उठ जाता है कि वे अपने जीवन को जगमगाता हुआ बनाते है, अपने जीवन का नव-निर्माण करते है। सारा जीवन उनके इशारो पर चलता है और इस ढग से इस जीवन में कोई भी कही भी अराजकता दिखलाई नही देती है।

वह सकल्प-शक्ति इस शरीर को भी नियन्त्रण मे रखती है और इन्द्रियों पर भी शासन करती है। शुभ सकल्प-शक्ति मन पर भी अधिकार करती है और वह शक्ति हमारी बुद्धि को, हमारी प्रेरणा को, हमारी भावनाओ को भी नियन्त्रित रखकर चलती है। और, इस रूप में नियन्त्रित करके चलती है कि हम जो चाहते हैं, वही शरीर और ये इन्द्रिया करती हैं। कान, जो

हम चाहे कि यह सुने, तो वही सुनेंगे और हम चाहे कि यह चीज न सुने तो उसे कान सुनने से झटपट इन्कार कर देंगे। आँखें, जो हम देखना चाहते हैं वही देख सकेंगी और जो चीज हम नहीं देखना चाहेंगे, तो आँखें उसे नहीं देख सकेंगी। इसी प्रकार हमारे इस जीवन का एक बहुत बड़ा विशाल साम्राज्य जो है एक विशाल सृष्टि जो है वह ठीक रूप से हमारे जीवन के नियन्त्रण में आ जाती है।

अब ये दो परस्पर विरोधी वचनावलियाँ हो गई। एक जगह कहते है कि देवता ही देवता बनता है और दूसरी जगह कहते हैं कि देवता मरकर देवता नही बन सकता।

उन्होने अपनी इन विरोधी बातो का स्पष्टीकरण करते हुए कहा जिस देवलोक की हम बात करते हैं और जिस देवता बनने की हम बात कहते हैं, वहाँ देवता पहले मनुष्य इस जीवन मे बन जाता है, देवत्व का वह सकल्प उसके अन्दर यही जागृत हो जाता है। इसी जीवन के अन्दर उन दैवी शक्तियो का विकास हो जाता है, तो वह यही पर देवता बन जाता है। और, यहाँ देवता बना है, तो आगे भी देवता बनेगा। अगर यहाँ देवता नही बना है, यहाँ जीवन मे दैवी शक्तियाँ जागृत नही हुई हैं, यहाँ जीवन अन्धकार मे भटकता चला जा रहा है, यहाँ काम क्रोध, मद, लोभ और अहकार के अन्दर जीवन डूबा हुआ है, जीवन के चारों ओर इनका घना अन्धकार छाता चला जा रहा है, तो समझ लो, वह आगे भी देवता बनने वाला नहीं है। जो यहाँ नरक मे पडा है। यहाँ सकल्प और विकल्प के घोर जगल मे फँसकर अपने-आप इस जीवन के निर्माण के लिए तैयारी नही कर रहा है, वह आगे चलकर कोई स्वर्ग प्राप्त करेगा, यह आशा छोड़ देनी चाहिए।

मैं विचार करता था आपके सामने कि हमारे ये जो विचार हैं कि अमुक प्रकार की मालाएँ फेरने से स्वर्ग मिल जाएगा, अमुक ढग का क्रियाकाड बाहर-बाहर कर लेने से स्वर्ग पर अधिकार हो जाएगा। इस प्रकार अपने जीवन का रस और जीवन की शक्ति यहाँ प्राप्त करने के लिए ठीक ढग मे

सोचते नहीं विचार नहीं करते और यह विचार करते हैं कि यहाँ पाएँ या नहीं पर आगे पा जाएँगे तो इसके लिए तो महान पुरुषों ने स्पष्ट ही इन्कार किया है। उन्होंने कहा है कि तुम अपने इस जीवन में जहाँ खड़े हो अगर यहाँ तुम्हारे जीवन का निर्माण हो रहा है अगर यहाँ तुमने अपने जीवन को स्वर्ग बना लिया है तो आगे स्वर्ग भी तुम्हारे अधिकार में है, तुम्हारी मुट्ठी में है। यहाँ अगर तुम अपने-आपको नहीं बना पाए अगर तुम यहाँ अपने-आप पर विजय प्राप्त नहीं कर सके अभिमान माया लोभ पर और लालच पर विजय प्राप्त नहीं कर सके तो आगे के जीवन में क्या रखा है? यानी इस जीवन को अगर भावनाओं से [illegible] का आपका प्रयत्न है तो तुम्हारी [illegible] निश्चित है।

दिया है। और, उसे जीवन के मैदानो मे जीवन की लड़ाई लड़ने के लिए, जीवन के सघर्षों पर विजय प्राप्त करने के लिए, इस ससार मे जो कुछ भी क्लेश, द्वन्द्व, घृणा और नफरत आदि है, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा प्रदान की है। उसने स्पष्ट घोषणा की है कि "मनुष्य ! तू अपने-आप मे ईश्वरीय शक्ति है, तू अपने-आप मे एक परमात्म-तत्त्व की ज्योति है। तू इस ससार मे कीड़े-मकोडो की तरह से जिन्दगी गुजार देने के लिए नही आया है। इन दुनिया की अन्धेरी गलियो मे कुत्ते-बिल्लियो की तरह से घिसटने के लिए नही आया है। तू इस ससार मे आया है अपने-आपको भी जगाने के लिए और आसपास मे तेरे जो एक दुनिया सोई पड़ी है, उसको भी जगाने के लिए !

मैं आपसे एक बात कह रहा था कि मनुष्य उस आगे आने वाली दुनिया के ऊपर तो अधिकार करने के लिए चलता है और वहाँ सुख और आनन्द की लहरो मे जाने के लिए चलता है, पर एक छोटा-सा परिवार, जो उसे मिला है, उसका निर्माण नही करता है। एक छोटा-सा परिवार, जो आसपास में उसे मिल गया है, वहाँ अमृत बाटने के लिए तैयार नही रहता है। वहाँ तो सारा परिवार सूना-सूना रह रहा है। उसके साथ माधुर्य और मिठास के ताल्लुक टूटते जा रहे है, मनुष्य एकागी बनता चलता जा रहा है और उसका जीवन अपने-आप में खोया-खोया-सा रहता है।

और, उस हालत मे मनुष्य माता-पिता का उत्तरदायित्व उठाने के लिए तैयार नही है। इसी प्रकार से भाई-भाई

भी अपने स्वार्थों के घेरे में पड़कर अगर अपने इस जीवन में धन से ऊपर प्रेम को महत्त्व नहीं देता है, इस संसार की प्रतिष्ठा के ऊपर अपने स्नेह को महत्त्व नहीं देता है, अपने भोग और विलास से ऊपर उठ कर मनुष्यता की ज्योति नहीं चमकाता है। परिवार अगर नरक बन रहा है, परिवार के अन्दर अगर काँटे बिछाये चला जा रहा है और एक-दूसरे का शत्रु होता जा रहा है, एक-दूसरा, एक-दूसरे की जिन्दगी में से रस लेना छोड़ रहा है, वह एक मिट्टी की दीवार के घेरे में बन्द रहकर चल रहा है, अपने-आप में एक-दूसरे से स्नेह-सम्बन्धों को काटता चला जा रहा है, तो मैं कह रहा था आपसे कि जो अपने इस [illegible] से जीवन पर अधिकार नहीं कर सका [illegible] में इस छोटे से परिवार की सृष्टि पर [illegible] कर सका और फिर अगर वह स्वर्ग पर [illegible] के सपने लेता है, तो यह कहना होगा कि [illegible] जा रहा है। अपने इस जीवन के [illegible] मिल गई है, और उसके ऊपर वह [illegible] रहा है। वर्तमान जीवन का निर्माण न करके जो कल के स्वर्ग की दुनिया का निर्माण करने के सपने ले रहा है वह एक भ्रान्त कल्पना है। उसके सम्बन्ध में भारत के आचार्यों ने कहा है—

और यहाँ पर अपने जीवन के संकल्पों को जागृत करना है। और, इस स्थिति के अन्दर परमात्मा के दर्शन, ईश्वर के दर्शन तभी हो सकेंगे, जब पहले हम अपनी आत्मा के दर्शन कर लेंगे।

ईश्वर को परखने के लिए तो मनुष्य के अन्दर छटपटाहट होती है और ईश्वर है या नहीं, इसके लिए पुराने युगों के अन्दर भी बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हुए हैं और आज भी होते रहते हैं। जब कभी कोई साधक मिल जाता है, तो ईश्वर को सिद्ध करता है, ईश्वर की चर्चा करता है।

मैं समझता हूँ कि ईश्वर को सिद्ध करने से पहले मनुष्य को अपनी सिद्धि करनी चाहिए। ईश्वर की जाँच और परख करने से पहले मनुष्य को अपनी परख कर लेनी चाहिए। ईश्वर के दर्शन करने के लिए जो लालायित है, उसे पहले अपनी आत्मा के दर्शन करने चाहिएँ। जो अपनी आत्मा के दर्शन नही कर सका, अपने-आपको नही जाँच सका, अपनी उपयोगिता का ठीक रूप मे ज्ञान और मूल्यांकन नहीं कर सका, और ईश्वर दर्शन के लिए चल रहा है, तो इस पर हमें जरा ठहर कर गम्भीरता से विचार करना पड़ेगा।

मुझे एक सज्जन मिले। और, साधु होने के नाते गाँव मे क्या, हर जगह कुछ भक्त मिलते रहते हैं और भारतीय विचार-धारा की प्रेरणा उन लोगों को जो मिली है, उसी प्रेरणा के बहाव मे बहते मिलते हैं। पर, बहना और चीज है और तैरना और चीज है। वे अधिकतर जीवन मे तैरते नहीं,

बहते हैं। तैरना है ज़िन्दा आदमी का काम और बहना है मुर्दे का काम।

लेकिन हम देख रहे हैं कि जीवन के इस विशाल क्षेत्र में दर्शन के रूप में, फिलासफी के रूप में या पन्थ और संस्कृतियों के रूप में, जो विचारधारा हमें मिली है उस विचारधारा में हम अपने संकल्पों को लेकर अपने जीवन को तैयार करके कोई विवेक और विचारपूर्वक उस बहाव में तैरते नहीं हैं। बिना किसी विवेक-विचार के बिना किसी पवित्र संकल्प के हम उस पुरानी परम्परा के अन्दर बहते चले जा रहे हैं।

और, उस स्थिति मे अगर आप बुद्धिपूर्वक अपने जीवन और विचारों के प्रवाह मे बहेंगे, तो तुम्हारा बहना तैरना होगा। लेकिन, अगर तुम अपनी बुद्धि और संकल्प न रक्खो और पहले वाले बहते चले आ रहे हैं, इसलिए हमने भी बहना शुरू कर दिया है, तो यह तो केवल उस मुर्दे के लिए होता है, जिसके पास अपना कोई विचार और चिन्तन नही होता। जिसके पास कोई संकल्प-शक्ति नही होती। उससे पूछे, कहाँ तक बहकर जाओगे, तो मुर्दा क्या कहेगा? कुछ नहीं। पर किसी तैरने वाले से आप पूछे कि भाई कहाँ तक तैरोगे, तो वह अपना लक्ष्य साफ तौर से बता सकता है। क्योंकि, वह अपने-आप मे ठीक निर्णय की शक्ति रखता है।

जो लोग इस प्रकार की बन्द और तंग विचारधाराओं मे रहने लगते हैं। त्याग और वैराग्य के नाम पर, माला और भक्ति के नाम पर बहता हुआ जो प्रवाह है, उसमे आँखे बन्द करके बहना शुरू कर देते हैं, स्वयं का चिन्तन और मनन नहीं कर पाते है, वे जीवन का प्रकाश नहीं पा सकते, मनुष्य-जन्म का सही मूल्य प्राप्त नहीं कर सकते।

मनुष्य की सबसे बड़ी परिभाषा क्या है? मानव को मानव क्यों कहते हैं? यह शरीर जो कुछ भी मिला है, यह शरीर जैसा कि इन्सान का है, वैसा ही पशुओं का है। बनावट मे थोड़ा-बहुत अन्तर है, पर वास्तव मे जो अन्तर है, वह शरीर मे नहीं, वह आपके मन मे है, आपकी मनुष्यता मे है। शरीर की बनावट मे अन्तर होना कोई बहुमूल्य अन्तर नहीं है। सबमें बड़ा अन्तर है आपकी बुद्धि मे, आपके चिन्तन तथा मनन मे। इसीलिए कहा गया है :—

है, चिन्तन और मनन जारी है, तब तो जीवन में चमक आ जाती है, नहीं तो भटकना शुरू हो जाता है मनुष्य।

मनुष्य ईश्वर को तो देखने को चल पड़ा है, पर अपने-आपको भी कभी उसने देखा है ? तुम इस ससार में न मालूम कहाँ से आए और कैसे आए ? पर जब आ गए हो, तो अब तुमने अपने-आपको परखा है या नहीं ? ईश्वर का दर्शन, ईश्वर बनकर ही किया जा सकता है। इससे कोई निचली भूमिका नहीं है ईश्वर-दर्शन के लिए। ईश्वर का साक्षात्कार तत्स्वरूप बनकर ही किया जा सकता है।

इसका अर्थ यह है कि जिसने अपने जीवन में ईश्वर का दर्शन कर लिया है, वही ठीक रूप में ईश्वर का दर्शन कर सकता है। पर, अपना तो पता ही नहीं और ईश्वर की तलाश करने चले, तो फिर क्या प्राप्त हो सकता है ? कुछ भी नहीं। यह तो वही बात हो गई कि एक यात्री जगल में दौड़ा चला जा रहा है, पसीने से तर-बतर हो रहा है। आप उससे पूछें क्यों भाई, तुम कहा जा रहे हो ? तुम्हें कहा जाना है ? वह अगर यह कहे कि मुझे तो मालूम नहीं, कहाँ जाना है ? तो मैं समझता हूँ कि आप लोगों के मन में हँसी आए बिना न रहेगी, फिर भले ही आप उस हँसी को उस आदमी के सामने दबाकर रह जाएँ शिष्टाचार के नाते।

अगर आप पूछें भाई, कहाँ से आ रहे हो ? और, वह जवाब दे कि मुझे तो मालूम नहीं कि मैं कहाँ से आ रहा हूँ, तो यह तो बड़ी विचित्र बात है। आप पूछें अच्छा यह तो बताओ तुम होते कौन हो ? वह कहे मुझे तो यह भी पता नहीं कि मैं कौन

हूँ ? अगर आप यह पूछें तुम दौड़ क्यों रहे हो ? और वह इसके लिए भी कह दे मुझे तो मालूम नहीं, मैं क्यों दौड़ रहा हूँ ? तो इससे तो आप यही समझोगे कि इसका दिल और दिमाग ठीक नहीं है। इसका तो पागलखाने में ठीक तरह से इलाज कराना पड़ेगा और कोई रास्ता नहीं है इसके जीवन के सम्बन्ध में।

मैं शिमला गया था एक बार। वहाँ पर एक युवक, जो कि तीस-चालीस वर्ष की अवस्था तक पहुँच रहा था, हर रोज दौड़ता-दौडता आता दर्शन करने के लिए। जूते खोले। अन्दर आया और कहा महाराज, मागलिक सुना दीजिए। मागलिक सुने और उल्टे पैर भगे जल्दी-जल्दी। पहले दिन देखा, तो सोचा कोई काम हो सकता है। दूसरे दिन भी वह इसी तरह से आता है और भाग कर चला जाता है। उस दिन भी सोचा कि आज भी कोई जरूरी काम हो सकता है। गृहस्थी आदमी है। दर्शन कर ले और मागलिक भी सुन ले, तो बहुत अच्छा मालूम होती है। पर कई दिनो तक इसी तरह देखने के बाद मन मे आया कि यह कैसा क्रम है? यह कैसा भागना है? आता है और जल्दी-जल्दी चला जाता है? केवल मत्था टेकने के लिए आता है! मत्था टेका और भागा!

एक दिन मैंने पूछा क्यों भाई, ऐसा क्या है? रोजाना ही ऐसी जल्दी क्या है? क्या कोई जरूरी काम रहता है?

उसने कहा महाराज, मुझे एक परीक्षा देनी है। उस परीक्षा की तैयारी मे लगा हूँ। इसी कारण से अवकाश अधिक नही मिलता है।

काफी अच्छी तनख्वाह उसे पहले मे ही मिल रही थी। लगभग सात सौ, आठ सौ मिल रहे थे। पर फिर भी, उसे परीक्षा देनी बाकी रह गई! हमारी उत्सुकता कुछ पूछने की बढ़ी। और पूछा यह परीक्षा दोगे, तो क्या परिणाम आएगा इसका?

उत्तर दिया उसने मेरी ग्रेड बढ़ जाएगी और मैं पन्द्रह सौ तक की तनख्वाह तक पहुँच जाऊँगा।

"ठीक बात है। फिर क्या होगा?

"फिर एक परीक्षा और है, उसे दे दूँगा।

"और, उसके बाद फिर क्या होगा?"

"महाराज, फिर दो हजार मिलने लग जाएँगे।

"ठीक है यह भी। मैंने कहा फिर क्या होगा?"

"फिर बस है महाराज।"

"ठीक है।"

"और ?"

"बस महाराज !" उसने उत्तर दिया।

उसने अपने जीवन के आगे तब 'बस' लगा दी। वह एक मकान के आगे और थोड़े से धन के आगे 'बस' लगाकर बैठ गया।

इसी प्रकार से, हम देख रहे हैं जीवन के क्षेत्र में कि एक विद्यार्थी पढ़ता है और उससे पूछते हैं क्यों पढ़ते हो ?

कहता है वह मेट्रिक पास करूँगा।

"इसके बाद क्या करोगे ?"

"बी० ए० कर लूँगा। एम० ए० कर लूँगा।"

"फिर क्या करोगे ?"

"कहीं नौकरी की तलाश कर लूँगा। और, कोई अच्छी-सी नौकरी मिल गई, तो 'बस' है महाराज, आपकी कृपा है। फिर आनन्द ही आनन्द है!"

इस तरह से हम यह जीवन के आगे जो 'बस' लगाते चले जा रहे हैं और अपने जीवन का केन्द्र इतना छोटा बनाते चले जा रहे हैं, यह अच्छी चीज नहीं है जीवन के लिए। यह छोटा केन्द्र हमारे जीवन का जो बनता जा रहा है, यह जो नाटा कद हम करते जा रहे हैं, यह जीवन की एक भयंकर स्थिति है।

मैं समझता हूँ कि इस शरीर का छोटा कद होना, और

इस शरीर में नाटापन होना सम्भव है, ज्यादा खतरे की चीज न हो। पर जीवन का केन्द्र जब छोटा हो जाता है, दस-बीस, पचास या हजार, लाख, दो लाख की पूंजी प्राप्त की या नौकरी मिली कि 'बस' हो गया। थोड़ी-बहुत तरक्की हो गई और 'बस' हो गया। तो यह बस का हो जाना जीवन के लिए इतनी खराब चीज है कि कुछ पूछिए नहीं। यह 'बस' ठीक रूप में कोई लक्ष्य हमारे जीवन के सामने नहीं रख छोड़ रहा है।

लेकिन, मुझे कहना है कि हजारो, लाखो और करोडों वर्ष हो गये इस इन्सान को इस परिवार मे आये, पर इस परिवार से आगे अपने-आपको निकालने से उसने इन्कार कर दिया है। परिवार के आगे समाज है, समाज के प्रति भी इन्सान का कुछ कर्तव्य है और इससे आगे राष्ट्र आता है, उसके प्रति भी इस इन्सान के कुछ कर्तव्य हैं। आज वह इन कर्तव्यों को भूल रहा है। कुछ ही मनुष्य ऐसे हैं, जो आज भी समाज मे और राष्ट्र मे फैलते है, पर उनकी सख्या बहुत कम है। राष्ट्र से भी आगे बढकर विश्व और ससार का भी कुछ जीवन है, पर इस राष्ट्र की दीवार को भी लाघकर बहुत ही कम अपने-आपको फैला पाते हैं। भारतवर्ष ने, भारतवर्ष के महर्षियो और सन्तो ने तो यह कहा था कि —

"उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"

जो उदार-चित्त पुरुष हैं और भारतीय सस्कृति के द्वारा जिन्होने अपनी आत्मा को माजा है, परिमार्जन किया है, वे अपने-आपको इस सारे विश्व मे, सारे ससार और जगत् मे फैला हुआ समझते हैं। सृष्टि के कण-कण मे अपने-आपको व्याप्त समझते हैं। परिवार चाहे छोटा हो या बडा हो, उसमे भी अपने को व्याप्त समझते हैं। समाज है, तो उसमे भी और समग्र ससार मे भी अपने-आपको व्याप्त समझते हैं। इतना विशाल दृष्टिकोण जिस व्यक्ति के पास है, जिस समाज या जिस राष्ट्र के पास है, वह महान् बनता है।

हम आज देखते हैं कि हजारो-लाखो लोग अपने छोटे-से परिवार में ही अपने को सीमित रक्खे हुए हैं। इसी परिवार

के केन्द्र में पड़े हैं। हजारों-लाखों लोग अब भी समाज के छोटे-छोटे दायरों में बन्द पड़े हैं। हम ओसवाल हैं, हम अग्रवाल हैं, हम ब्राह्मण हैं और इनमें भी ओसवालों अग्रवालों और ब्राह्मणों में भी कितने ही भेद-प्रभेद हैं। इनकी अपनी-अपनी जाति के नाम पर शिक्षण-संस्थाएँ भी होती हैं और भी बहुत-सी चीजें होती हैं भिन्न-भिन्न रूप में।

पानी का झरना जिसमे आ चुका है, उसके ऊपर पहरा बिठा देना सबसे बडी मूर्खता है। जब तक जल की धारा बह रही है और वह विशाल जल का प्रवाह अन्दर से आ रहा है, तब तक तुम भी पीओ, पड़ोसियों को भी पीने दो और जो इधर-उधर से आ रहे हैं, उन सबको भी पीने दो। कोई कमी नही है प्रकृति के क्षेत्र मे। जिस दिन कमी आ जाएगी और जिस दिन जल की धाराएँ सूख जाएँगी, तो दूसरो की तो क्या बात है, तुम्हे भी चुल्लू-भर पानी पीना मुश्किल हो जाएगा।

इस प्रकार जब सकुचित भावनाएँ और जातीय सकीर्णताएँ हमारे जीवन को घेर कर खड़ी हो जाती हैं, तो हम अपने इस जीवन के विशाल तत्त्व को ध्यान मे नही रख पाते और छोटे से प्रकाश में, छोटे से घेरे मे बन्द हो जाते हैं।

तो, मैंने कहा ईश्वर के विषय मे पूछने वाले उस भाई से कि तुमने अपनी आत्मा को देखा है कि नही? तुम इस पिण्ड मे बन्द हो, तुम अपने-आप मे ही ससार के स्वार्थों के घेरे मे बन्द होते चले जा रहे हो, तो उस घेरे से बाहर निकल रहे हो कि नही? तुम्हारे जीवन का विशाल प्रेम का तत्त्व केवल तुम्हारे शरीर पर ही अटक जाता है या कि तुम्हारे परिवार में भी फैला है? परिवार के भी तुमने दर्शन किये हैं कि नही?

परिवार के दर्शन का मतलब यह है कि बडे-बूढों के सामने तुम नम्र रहते हो कि नही? उनका सम्मान सुरक्षित रहता है कि नही? वे इस बुढापे की जिन्दगी मे जब आ रहे हैं और एक विशाल जीवन का इतिहास पीछे छोड़ कर आ

रहे हैं, तब तुम्हारे जीवन के ऊपर एक प्रकार का उत्तरदायित्व आ खड़ा होता है। तुम्हारी हरकतों से प्रसन्नता और सन्तोष की धारा बहती है कि नहीं उनके अन्दर? तुम्हारी वृद्धा माता जिसने कि अपने जीवन के विशाल क्षेत्र को तय कर लिया है वह आज निराशा के किसी भंवर में तो नहीं डूब रही है? तुम्हारे पुत्र और पुत्रियाँ हैं उनके प्रति भी तुम्हारा कुछ कर्तव्य है। तुम्हें यह देखना है कि वे इस संसार के एक योग्य नागरिक बनने की तैयारियाँ ठीक रूप से कर रहे हैं कि नहीं? इधर-उधर कोई गड़बड़ आ जाय तो नहीं रह गयी है उनके जीवन में?

आमोद-प्रमोद के सभी साधन उपलब्ध हैं। पर, उधर झोपड़ी मे रहने वाले एक-एक टुकड़े के लिए तरस रहे हैं। उनके बाल-बच्चे रोटी के अभाव मे बिलख रहे है। भूख और प्यास के द्वारा उत्पन्न अन्याय और अनीति के पथ पर दौड़े चले जा रहे हैं।

और, जब कभी इससे उत्पन्न दुर्घटनाएँ आप सुने, उनके जीवन की बातें और गलतियाँ सुनें और सुन कर छि छि करे कि ये कितने बदमाश है? तुम्हारा मुँह उनके के लिए सौ-सौ गालियाँ देने के लिए तो आतुर रहे, पर एक भी आशीर्वाद तुम्हारे मुँह से नही निकल रहा है, तो हम समझते हैं कि आप केवल मिट्टी के एक घेरे मे बन्द हो चुके हैं। जीवन मे इधर-उधर उस ईश्वर के अनन्त रूप को तो आप देखना चाहते है, पर उस अनन्त रूप को देखने से पहले उसके ये जो छोटे-मोटे रूप हैं, ये जो छोटी-मोटी इकाइयाँ हैं, उनको देख नहीं सकते हैं, तो मै दावे के साथ कह सकता हूँ कि तुम्हे ईश्वर के दर्शन कभी हो नही सकते।

जीवन में सबसे बडी शक्ति अपने-आपको देखने की शक्ति है। सबसे बड़ी शक्ति अपने-आपको परखने की शक्ति है। सबसे बडी ताकत अपने-आपको माजने की ताकत है। अगर वह प्रकाश आपके पास मे है, तो सबसे बडा प्रकाश पा लिया है आपने जीवन का। और, अगर आपके पास वह प्रकाश नहीं रहा है, तो ईश्वर का प्रकाश किस काम का? वेद और पुराण और आगमों का प्रकाश भी किस काम का? अमुक धर्म और सस्कृति का प्रकाश भी किस काम का? इस प्रकार के कितने ही प्रकाश दुनिया में क्यो न चमके, पर अगर आपकी आँखे

सूरज का प्रकाश है तो अच्छा प्रकाश, पर सबसे अच्छा दीपक है। उसका प्रकाश है सब से बडा। वह मिट्टी का नन्हा-सा दीया घर के कोने के अन्धकार से लडता है और जब अन्धकार से लड़ता है, तो चारा ओर घर रोशनी से जगमगाहट करने लगता है। यह प्रकाश बहुत सुन्दर है। ससार मे सूरज और चाँद आने पर कोई दीवाली नही मनाता है। पर, उस दिवाली का उत्तराधिकार मिट्टी के उस के नन्हे दीये को ही मिला है। इसलिए सबसे बड़ा प्रकाश तो दीपक का है।

इस सारी बहस के दौरान मे एक विद्वान् और दार्शनिक चुपचाप बैठा सुनता रहा। सबने कुछ-न-कुछ जवाब दिया, पर वह चुप रहा। राजा ने उसे देखा और कहा तुम भी तो कुछ कहो।

उसने कहा बहुत कहने वाले है। वे कह रहे हैं और इसलिए मैं उनको सुन रहा हूँ। सुनना ज्यादा अच्छा है, बोलने की अपेक्षा। इसलिए मैंने कुछ कहा नहीं।

राजा ने कहा कुछ तो कहो।

तब उठकर उसने कहा मै आप सब सज्जनो से यह कहने के लिए क्षमा चाहूँगा कि सूर्य का प्रकाश, प्रकाश है, चन्द्रमा का प्रकाश भी प्रकाश है और दीपक का प्रकाश भी प्रकाश है। इसी तरह से अमुक प्रकार के दूसरे प्रकाश भी प्रकाश है। सब प्रकाश हैं, इसमें कोई शक नही। लेकिन, सबसे बडा प्रकाश कोई और ही है। और, वह सबसे बड़ा प्रकाश है इन नन्ही-सी आँखो के नन्हे-से तारे में, जिसे आप नेत्र-बिन्दु कहते है और अपने

धर्म और मजहब से प्रकाश मिल जाएगा, जीवन का प्रकाश भी मिल जाएगा और ईश्वर का प्रकाश भी मिल जाएगा। और, अगर आप अपने-आप मे ही ठीक नही है, तो फिर प्रकाश कहाँ से मिलेगा ?

अगर दर्पण मैला है, अन्धा है, उस पर कालिख पुती है, तो उसमे अगर आप अपना चेहरा देखना चाहे, तो आपका प्रतिविम्ब उस दर्पण पर पड़ेगा नही। कितनी ही देर आप खड़े रहे, पर उस दर्पण मे कोई परिवर्तन आपके उसके सामने खड़े रहने से नही आएगा। लेकिन, अगर दर्पण निर्मल है, साफ है, तो जब खड़े होते है आप, तो उसी समय, उसी हालत मे—जैसी हालत में आप उसके सामने खड़े होगे—आपका प्रतिविम्ब झटपट उसमे पड़ने लगेगा। उसमे हफ्ते, दो हफ्ते—घन्टे, दो घन्टे नही लगेगे। सामने खड़े हुए नही कि आपका प्रतिविम्ब उसमें पडा नही।

इस दृष्टिकोण को अगर आप ध्यान मे रख रहे है, तो मुझे कहना यह है कि यह सारा ससार जो-कुछ भी आपके सामने है, वह आपके सकल्पो का है, वह आपके अपने विचारो का है। इस ससार के बुरेपन और भलेपन का सारा उत्तर-दायित्व आप पर है। अगर आपका अपना दृष्टिकोण ठीक है, तो ससार मे स्वर्ग आ जाता है और अगर आपका दृष्टिकोण ठीक नही है, तो ससार नरक बन जाता है। अगर आप अपने सकल्पो मे सही हैं, तो परिवार समाज या राष्ट्र मे जहाँ कही भी आप रहेगे, वहाँ प्रेम की बासुरियाँ बजेगी और उस मधुर सगीत मे आप भी अपने जीवन का आनन्द ले सकेंगे, और

अगर तुम 'मैं' का, और 'ममत्व' का त्याग नहीं कर सकते, तो यह करो कि ससार के सब प्राणियो पर उस अपने 'अह' और 'मै' को विस्तृत रूप दे दो और जब किसी पर भी दुख पड़े, तो तुम उसकी अपने अन्तर मे अनुभूति करो कि मुझे ही यह दु ख मिल रहा है। अगर कभी किसी को गाली मिले, तो कल्पना करो कि गाली मुझे ही मिल रही है। अगर किसी का अपमान हो रहा है, तो अनुभूति करो कि वह अपमान मेरा ही अपमान हो रहा है। अगर किसी का अधिकार छीना जा रहा है, तो कल्पना करो कि मेरा ही अधिकार छीना जा रहा है। अगर किसी के जीवन के महल की नीव की ईंट सरकाई जा रही है, तो कल्पना करो कि मेरे ही जीवन के महल की नीव की ईंट सरकाई जा रही है। जीवन मे ससार के दूसरे प्राणी किसी और तरह से जिन्दा रह रहे है और तुम और कोई विलक्षण ढग से जिन्दा रहे हो, ऐसी, बात नहीं है। ससार-भर की आत्माओ के साथ मे विश्वात्मा और एकात्मता की अनुभूति करना, ससार-भर के प्राणियो को अपनी आत्मा के समान समझना और सोचना ही सच्ची आत्मानुभूति है। सभी प्राणियो के सुख-दु ख की अनुभूति अपने मे करना कि इस संसार के सभी प्राणी एक-से हैं। खुशी मे समान, अपमान मे समान और इस प्रकार ससार के प्राणी-मात्र के सुख-दुखो को अपना सुख-दु ख समझना ही सच्ची आत्मानुभूति है।

जैन-धर्म ने जब प्राणी-जगत् का विश्लेपण किया, तो उसके बहुत भेद किये और जब कभी हम पुराने ढग से पढने वाले साथी मिल जाते हैं, तो उन सब की चर्चा करते है। जीव के कितने भेद हैं, यह चर्चा छिड़ जाती है। जीव के सब मिलकर

५६३ भेद होते हैं और इसका भी विस्तार चलता रहता है और सिद्धान्त की जो बारीकियाँ है, वे हमारे सामने आकर खडी हो जाती हैं।

लेकिन, मैं अपने साथियो से पूछा करता हूँ कभी-कभी कि "अखिरकार, यह जो इतना प्राणी के भेदो का निरूपण है, इतना लम्बा-चौडा वहीखाता है भेद-प्रभेद का, क्या इसका मतलव केवल इनको याद कर लेना, उनको दोहराते रहना और उस पर सघर्ष करते रहना ही है कि अमुक आचार्य ने इतने भेद बताये और अमुक ने इतने बताये ?"

यह सब इसके लिए नहीं है। यह प्राणी-जगत् का विशाल रूप आपके सामने खडा कर रखा है, इसमें यह आत्म-तत्त्व बताया गया है कि वह कहाँ-कहाँ, किस-किस रूप में चल रहा है अपने जीवन के क्षेत्र में या बाहर ? अपनी आत्मा इस शरीर के कारण किस रूप में कहाँ-कहाँ पनप रही है, यह एक विशाल रूप हमारे सामने रखने के लिए यह सब दृष्टियाँ रक्खी हैं। लेकिन, आज इस सब का, इन शास्त्रो का अर्थ क्या हो गया है कि केवल हम शब्दो को पकड कर रह जाते हैं, भावनाओ को पकडने की कोशिश नहीं करते।

भगवान महावीर के शिष्यों और साधकों से किसी ने पूछा 'तुम हिंसा क्यो नहीं करते हो ? किसी प्राणी को तकलीफ क्यो नहीं देते हो ? किसी को कष्ट क्यों नहीं देते हो ? किसी का अपमान क्यों नहीं करते हो ?' तो, उन्होंने एक सीधी-सादी भाषा में बिना किसी और शास्त्र का

प्रमाण दिये केवल एक अन्तरग आत्मा की अनुभूति, समस्त विश्व मे एक अखड आत्म-तत्त्व की अनुभूति पर उत्तर दिया कि विश्व की आत्माएँ सभी एक रूप मे और एक ही स्वरूप मे हैं और एक ही ढग मे उनके जीवन का प्रवाह वह रहा है। ससार की आत्माओ को अलग-अलग आधारो पर नाप नही सकते। उनके जीवन का गज अलग-अलग नहीं है। सारे विश्व की आत्माओ को नापने का एक ही गज है। उस आत्म-तत्त्व की अनुभूति के साथ उन्होंने जोर देते हुए कहा —

"सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ"

अढ़ाई हजार वर्षों की इस पुरानी गाथा मे वे साधक उस पूछने वाले से कह रहे हैं कि "ससार के सव प्राणी जीना चाहते हैं। संसार के सभी प्राणी अपने-आपको सुख मे देखना चाहते हैं। कोई भी प्राणी न मरना चाहता है और न अपने-आपको दु ख मे और कष्टो मे पडना देखना चाहता है। इस प्रकार जव हमें जीना प्रिय है, तो ससार के सभी प्राणियो को जीना प्रिय है और जव हमे मरना पसन्द नही है, तो फिर ससार के अन्य प्राणियो को भी मरना पसन्द कैसे आ सकता है?" इसीलिए निग्रथ भिक्षु घोर हिंसा को छोडते है—

"तम्हा पाणिवह घोर, निग्गथा वज्जयति ण।"

—दशवैकालिक, ६।११

इस प्रकार विश्व की सव आत्माएँ एक ही रूप मे है, इन्ही भावनाओ में से अहिंसा का जन्म होता है।

वह अहिंसा जब मनुष्य के पिंड के अन्दर बन्द हो जाती है, तो हम उसे स्वार्थ का नाम दे देते हैं। अपने प्रति तो अहिंसा की भावना रहती है, दूसरे के प्रति नहीं, यह जो अहिंसा का जीवन है, उसको हम स्वार्थ का रूप क्यों देते हैं और इसको खुदगर्जी का रूप क्यों देते हैं? इसका कारण यह है कि चाहे कितने ही पवित्र विचार हों, शुद्ध संकल्प हों, जब कि वे सीमित बन जाते हैं, छोटे बन जाते हैं, तब हम उसका असली रूप भूल जाते हैं और इस प्रकार हम में जीवन का वास्तविक तत्त्व नहीं रहता है। वह सड़ने लगता है। आगे का विशाल प्रवाह उसका बन्द हो जाता है।

इस जीवन की पवित्रता तो उसके बहते रहने में है। गंगा का विशाल प्रवाह बहता रहता है और उसकी पवित्रता भी उसके बहाव में ही निहित है। लेकिन, उसी गंगा में कभी बाढ़ आने पर या और स्थितियाँ पैदा होने पर, उसका थोड़ा-सा पानी इधर-उधर आस-पास के गड्ढों में जब पड़ जाता है, तो वह गड्ढों में पड़ा हुआ पानी गंगा-जल तो जरूर है, पर वह वहाँ पड़ कर भी सड़ने लगता है। उसका पानी दूषित हो जाता है। उसकी वह पवित्रता भी दूषित होने लग जाती है। और उस पानी को सड़ते-सड़ते एक दिन ऐसा आ पहुँचता है कि वह पानी पीने लायक भी नहीं रह जाता। आखिरकार, वह मलेरिया और दूसरे रोगों का केन्द्र बन जाता है।

इस प्रकार से मैंने कहा कि जो भी हमारे सुन्दर विचार हैं, सुन्दर संकल्प हैं, जब तक कि उनको विराट रूप मिला रहता है, जब तक वे जीवन के विशाल मैदानों में बहते रहते हैं, जब

तक कि वे इस मानव-जाति के प्रति या कि दूसरे प्राणियों के
प्रति एक सद्भावना के रूप मे वहते रहते हैं, तव तक उनकी
पवित्रता वनी रहती है, उनकी स्वच्छता कायम रहती है।
लेकिन, वे पवित्रता के विचार कितने भी वड़े क्यो न हो,
जव उनका दायरा सीमित वना दिया जाता है, उस वक्त
उनकी पवित्रता नष्ट होनी शुरू हो जाती है और वह सडने
लगती है, गन्दी वन जाती है।

तो, मैं कह रहा था कि प्रत्येक मनुष्य, जो अपने जीवन के
लिए संघर्ष कर रहा है, अपने अस्तित्व के लिए जो-कुछ भी प्रयत्न
कर रहा है, उस में उसकी अपने प्रति तो अहिंसा की बुद्धि हो,
कोमलता की बुद्धि हो, मानवता की बुद्धि हो, लेकिन चूंकि
वह इन छोटे-छोटे दायरो मे महदूद रह गया है, इस कारण सड
रहा है, गन्दा हो रहा है, वदवू दे रहा है।

इसीलिए हमारे महान् पुरुषो ने कहा है कि—"वे पवित्र
विचार, जो तुम्हारे इस छोटे-से परिवार मे पडकर सड़ रहे
हैं, उन्हे विशाल वनाइये, विराट वनाइये और जीवन के
विशाल क्षेत्रो मे ले जाइये। इन अहिंसा के महान् पवित्र
विचारो को अपने माता-पिताओ के प्रति भी सद्भावना के रूप
में अर्पण करिये। जो इन्सानियत की कोमल भावनाएँ आपके
पास पडी हैं, उन्हे उनके प्रति भी अर्पण करिये। जो आपके
भाई-वहन हैं परिवार मे, उनके प्रति भी उन भावनाओ का
प्रदर्शन करिये। कुछ परिवार के दूसरे लोग है, गली-मोहल्ले के
लोग हैं, आपके गाँव व शहर के और दूसरे इन्सान है, वे किसी
भी जाति व श्रेणी के क्यो न हो, किसी भी समाज के क्यो न

हो, अपनी सहानुभूति के दरवाजो को उन सब के लिए खुला रक्खो। अपनी शुद्ध-स्वच्छ भावनाओं को आगे बढाने का प्रयत्न करो। न किसी की जाति पूछो, न विरादरी पूछो, न राष्ट्र पूछो, न किसी की कौमियत पूछो, न किसी का परिवार पूछो। किसी का कुछ मत पूछो। केवल, तुम तो अपनी सद्भावना और सुन्दर विचारो की लहरो मे अखंड मानव-जाति को वहा ले चलो और इस प्रकार से केवल मनुष्य की अपने पिंड तक ही जीवन की सीमाएँ महदूद न रह जावे, बल्कि आगे बढनी चाहिए। वे जीवन के क्षेत्र मे आगे चलनी चाहिएँ।

बहुत से आदमी पवित्रता की बाते तो करते है जरूर, अहिंसा की बाते भी करते है और इस प्रकार अपने जीवन मे अहिंसा के लिए काफी शोर-गुल मचाते हैं। पर, स्थिति यह है कि वह अहिंसा केवल अपने तक ही सीमित होकर रह गई है। मनुष्य-मात्र की सेवा करना, अपने सुख-दुःखो को उन्हे अर्पण कर देना, मनुष्य-मात्र के लिए अपनी सद्भावनाओं का विशाल प्रवाह अर्पण करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। पर, ऐसा होता नही है। वह अपने तक ही सीमित रह जाता है। तभी तो मै कहता हूँ, इसका छोटा दायरा हो गया है।

हम देखते है कि मनुष्य के आस-पास मे पशुओं का जगत् है, जो कि न मालूम कब से अपनी खाल के जूते बना कर भी इस मानव को पहनाता आया है। वे पशु चाहे गाय के रूप मे हो, बैल के रूप मे हो, घोडे के रूप मे हो, ऊँट, भेड, बकरी या खच्चर के रूप मे हो, या फिर उडने वाले जीव हो, अथवा इधर-उधर नटखट बच्चों की

तरह से हुड़दग मचाने वाले वन्दर हो, मोर हो, कबूतर और चिड़ियाँ हो । जो-कुछ भी ये प्राणी है, मैं विचार कर रहा हूँ कि ये भी हमारे साथ रहे हैं और आदि काल से मनुष्य की सस्कृति के निर्माण मे उनका भी विशाल सहयोग रहा है। मनुष्य के जीवन का जो भी महल खडा हुआ है, उसकी नीव मे उनकी मूक सेवाएँ भी रही हुई है। उनके पीछे उनकी सेवाएँ भी काम करती रही हैं।

इस रूप मे, मनुष्य के शरीर के निर्माण मे भी क्या गाय ने, क्या वैल ने और क्या दूसरे पशुओ ने या दूसरे प्राणियो ने, दूध के रूप मे, खाद के रूप मे, या इधर-से-उधर सामान ढोने और ले जाने के रूप मे, पहरा देने के रूप मे या कि मनोरजन करने के रूप मे, नाना रूपो मे जो कुछ भी सहयोग दिया है और दे रहे है, उसे कभी भुलाया नही जा सकता ।

यदि आज मनुष्य अपने स्वार्थों के महल के कगूरो पर खड़ा होकर यह कहे कि "जो कुछ भी विकास उसने किया है, जगली सभ्यता से निकल कर बहुत वडी सभ्यता के दरवाजे पर जो खडा हुआ है आज वह, वह केवल उसने अपने ही बुद्धि-वल से प्राप्त किया है, वह अपने ही बुद्धि-वल से वहाँ खडा हो पाया है, उसमे किसी दूसरे का सहयोग नही है," तो मैं समझता हूँ कि ऐसा कहना पशुओ का स्वय का अपमान है, जिन्होने सहयोग दिया, उनका अपमान है। यह मनुष्य की कृतघ्नता है। एक प्रकार से यह एक बहुत वडी अप्रमाणिकता और वेईमानी की बात है अगर मनुष्य अपने-आप मे इस प्रकार सोच कर रह रहा है तो।

अगर वह ठीक रूप मे सोचेगा, तो उसके जीवन की महत्त्वपूर्ण भावना उसे अपने चारो ओर फैले हुए इस पशु और पक्षियो के जगत् मे मिलेगी। हमारे शास्त्रकारो ने कहा है कि मनुष्य अगर बडा भाई है, तो पशु-पक्षी-गण छोटे भाई हैं। छोटे भाई का जो अस्तित्व है, वह बड़े भाई के लिए अधिक प्रेम की चीज है। बडा भाई, छोटे भाई के लिए अपने सुख-दुःख उस पर निछावर कर देता है। और इसी तरह छोटा भाई भी बडे भाई के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। हमारे यहाँ छोटे भाई का अधिकार होता है सबके अधिकारो के ऊपर। वह सबके अधिकारो के ऊपर भी अधिकार करना चाहता है और अपने अधिकार जो है, उनको भी सुरक्षित रखना चाहता है।

इस रूप मे शास्त्रकारो ने जब पशु को छोटे भाई की उपमा दी है, तो इसका अर्थ यह है कि वह हमारे लिए अधिक प्रेम की चीज है। उसकी सुरक्षा की गारण्टी हमे देनी चाहिए। वह मूक है। बोल नही सकता है। अपने अधिकारो को स्वय नही समझ सकता है। वह बिचारा एक ऐसी श्रेणी मे है कि अपने-आप मे अपने जीवन के केन्द्र के ऊपर खडा होकर सघर्ष नही कर सकता। वह मूक-भाव से मानव के साथ-साथ चला आ रहा है सदियो और अनन्त काल मे। वह मूक भाव से आपके साथ-साथ चला है आपकी अगुली पकड कर।

अगर इस हालत मे इस बिचारे मूक छोटे भाई पर बडे भाई का तमाचा पडता रहे और वह अपने अधिकारो

को छिनवाता रहे, वडा भाई उस छोटे भाई के अधिकारो के अस्तित्व को चुनौती दे और अपने छोटे भाई के दु ख-दर्दों का, उसके प्राणो का भी कोई मूल्य न रक्खे, तो मुझे कहना पड़ेगा कि भारतीय सस्कृति ने जो-कुछ भी जीवन की समस्याओ को हल करते हुए दर्शन बताया, जो-कुछ भी दिशाएँ बतायी, उन्हे ठीक रूप मे समझा नही गया है।

जो अपने छोटे भाई के प्रति क्रूर रह सकता है, जो अपने बेजवान साथियो के प्रति निर्दयी और दुष्टता के भाव रख सकता है, जो कि अपने-आप मे बेचारे बोल नही सकते और वह मूक जवान और करुणा से भरा पशु एक इन्सान के सामने है, लेकिन फिर भी वह निर्दयता के साथ में उसके प्राणो को झिझोडता रहे, अपने खाने के लिए उनके जीवन को बर्वाद करता रहे, अपने शृङ्गार के लिए उनके जीवन को लूटता रहे, उनकी जिन्दगियो पर हमला बोलता रहे अपने थोड़े-से तुच्छ स्वार्थों के लिए और इस प्रकार वह अपने ही छोटे भाइयो का विनाश करे अपने जीवन के महल का निर्माण करने के लिए और उनके खून पर, उनकी हड्डियो के ढाँचे पर, अगर वह वडा भाई इन्सान अपने जीवन का महल खड़ा कर रहा है, तो हमे सोचना है कि आखिर, आज जो इन्सान के अन्दर निर्दयता के भाव घिरते चले जा रहे हैं, वे उस इन्सान को कहाँ ले जाएँगे? आज इन्सान मे जो निर्दयता के भाव बढते चले जा रहे है, वह निर्दयता का बीज कहाँ से आ रहा है?

सचमुच, मनुष्य आज अपनी कोमलता को, अपने प्रेम और स्नेह के विशाल स्रोत को सुखा रहा है, अपनी सहज कोमल वृत्तियो को कुचल कर फेंक रहा है, और उसकी निर्दयता

को विशाल रूप ले रहा है। आज मनुष्य के जीवन में निर्दयता का महान् अन्धारमय वातावरण चल रहा है। और, उससे आज ऐसी स्थिति हो गयी है कि मनुष्य आँखें बन्द करके इतनी निर्दयता से क्रूर कर्म करता हुआ चला जा रहा है कि वह अगर अपने आपको इस मार्ग से लौटाएगा नहीं, तो पशुओं और पक्षियों की इतनी-इतनी जातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं कि आने वाले वर्षों में इन प्राणियों का, इस पशु-जगत् का अस्तित्व भी रहेगा या नहीं, नहीं कहा जा सकता। कहीं ये केवल इतिहास और पुराणों की कहानियाँ ही बन कर तो नहीं रह जावेंगी ?

इस प्रकार जो उपयोगी पशु हैं, जिन्होंने एक दिन इस सृष्टि को समृद्ध किया, जिन्होंने एक दिन इस देश को समृद्ध किया, इस मानव को समृद्ध किया और भविष्य में भी जो नव-निर्माण में, मानव समाज और देश की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण भाग अदा कर सकता है, अगर उनके प्रति आप दयालु न बने, अगर उन के प्रति आप कोमल न बने, अगर उनके प्रति आपने अपनी सद्भावनाएँ अपण नहीं की अपने जीवन में, तो मैं देखता हूँ कि आपका अस्तित्व भी लुप्त होता नजर आ रहा है।

इस तरह आप के इस सिद्धान्त के रूप में या अहिंसा के रूप में और सद्भावना तथा मानवता के रूप में मनुष्य का मूल्य सन्निहित है। मैं अहिंसा को मानवता कहता हूँ और मानवता को अहिंसा कहता हूँ। आप अगर अपने जीवन के क्षेत्र में ठीक ढंग से विचार करें, तो मैं कहूँगा कि मनुष्य

की जो शुद्ध मनुष्यता है, वह कोमलता की मूलभित्ति पर टिकी है और कोमलता मनुष्यता के आधार पर खड़ी है। हम इन दोनों को अलग-अलग करके नहीं चल सकते। जब कभी इस देश मे हम इस आधार पर चलेंगे, तभी हमारा कल्याण होगा।

आज देश मे, इस दिशा मे प्रगति हो रही है। इस रूप मे छोटी-मोटी क्रियाएँ इधर-उधर चल रही है देश के कुछ कोनों मे और कुछ सन्त जन ऐसे है, जो इस प्रगति को लेकर विचार प्रकट करते हैं। भविष्य मे इन विचारों को कितना सहयोग मिलता है और कितना नहीं, यह भविष्य के गर्भ की बात है। धर्म के नाम पर या कि भारतीयता के नाम पर अथवा मानवता एव हमारी अहिंसात्मक सस्कृति के नाम पर एक विशाल सहयोग अगर इन सद्भावना-सूचक विचारों और प्रयत्नों को मिल जाता है, तो यह एक बड़ा अच्छा कार्य हो सकता है। और, इसके द्वारा समाज, सघ और राष्ट्र के भाग्य का कायाकल्प हो सकता है। जिससे समृद्धि, सुख, शान्ति और कल्याण की दिशाएँ साफ हो सकती है। इन भावनाओं के क्रियात्मक रूप मे ही मै आज के मानव का भविष्य उज्ज्वल रूप मे देख रहा हूँ।

# सारा दायित्व अपने ऊपर

भारतीय-वाङ्मय में 'धर्म' शब्द कुछ नया नहीं है। काफी पुराना है और अतीत काल से हम धर्म की बातें कहते आये हैं। परन्तु, धर्म क्या है और उसका जीवन से क्या सम्बन्ध है, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर गहराई से विचार करना चाहिए।

धर्म का अर्थ कुछ लोग लेते हैं—अमुक पन्थ की अमुक मान्यताओं से। धर्म का अर्थ कुछ ऐसा लिया जाता है कि अमुक तरह से जो क्रियाकाण्ड है, वही धर्म है। इसी तरह से कुछ लोगों ने धर्म को अमुक छापे में, या अमुक तिलक में या अमुक वेष-भूषा में, अमुक तरह की माला के जाप में या अमुक ढंग के पूजा-पाठ में बन्द कर लिया है।

मैं विचार करता हूँ कि यह बात तो ठीक है कि धर्म का कोई बाह्य रूप चाहिए जरूर। लेकिन, अपने-आप में वह केवल बाह्य रूप में ही बन्द नहीं है, क्योंकि धर्म आत्मा की चीज है, अन्दर की चीज है। और, जो अन्दर की चीज है, उसको किसी अमुक कपड़े में कि अमुक रूप-रंग में या कि अमुक क्रियाकाण्ड में या किसी अमुक बाहर की वस्तु में बन्द नहीं किया जा सकता। जो चीज अन्दर की है, उसको

बाहर की अमुक निशानी मे, अमुक छापे मे कि अमुक तिलक मे भला कैसे बाधा जा सकता है ?

इसी प्रकार से उसको हिन्दू न चोटी मे बाध सकते हैं और न मुसलमान ही उसे चोटी को उडाने मे बाध सकते हैं। इसी प्रकार न कोई ब्राह्मण उसे यज्ञोपवीत मे बाध सकता है और न अमुक प्रकार के उद्योगो मे उसे बन्द किया जा सकता है। इसी तरह कोई यह विचार करता हो कि इन सब चीजो मे धर्म है और इनमे धर्म सुरक्षित रहा हुआ है, ऐसी भी बात नही है।

तो, सिद्धान्त यह निकला कि जो अन्दर की चीज है, जो आत्मा की चीज है, उसको बाहर मे, बाहर की वस्तुओ मे बाधा नही जा सकता। हा, यह जरूर है कि ये बाहर की जो वस्तुएँ हैं, वे बाहर मे कुछ थोडी-बहुत उपयोगिता रखती हैं। ईश्वरीय प्रेरणाएँ लाने के लिए, उत्तम भावनाएँ बनाने के लिए और अमुक सकल्प को तैयार करने के लिए ये चीजें कुछ आवश्यक हो सकती हैं, और उनके लिए बिलकुल इन्कार करने मे हमारा आग्रह नही है।

परन्तु, एक बात जरूर है कि बाहर मे नजर रखते हुए भी अन्तर की तरफ हमारी नजर कायम रहे, वहाँ से हमारी नजर न डिगने पाए। अगर वह वस्तुएँ हमारे अन्दर मे प्रेरणाएँ दे रही हैं, तब तो उनकी उपयोगिता है। अगर ये अन्तर मे प्रेरणा नही दे रही है, तो बाहर मे उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

बात यह है कि आदि काल से मनुष्य जिस वातावरण में रहा है, तो वह दो तरह का रूप लेकर चलता रहा है। एक स्थूल बुद्धि का रूप और दूसरा सूक्ष्म बुद्धि का रूप। जो स्थूल-बुद्धि साधक है, वह सूक्ष्मताओं में जाता नहीं। स्थूल वस्तु को पकड़ कर ही रह जाता है। लेकिन, सूक्ष्म बुद्धि का साधक स्थूल की बातों में अधिक नहीं उलझता। उसका ध्यान सूक्ष्म रूप पर, अन्तरंग आत्मा पर रहता है।

और जो अन्तरंग आत्मा में चीज लेकर चल रहा है, वह इन कपड़ों में और बाहर के निशानों में तो क्या उलझेगा, संसार में भी नहीं उलझेगा। इन्द्रियों की वासनाओं को भी त्याग देगा, मन के अन्दर भी वह नहीं उलझेगा। वह तो क्रमशः सूक्ष्म—सूक्ष्मतर होता चला जाता है और इन ऊपर की चीजों में से किसी में भी न उलझ कर ठीक उसका निशाना आत्मा पर पड़ता है।

एक बार हम यात्रा कर रहे थे, विहार कर रहे थे। मार्ग में एक वैष्णव संत मिले। जिन्हें 'कनफड़ा' कहते हैं, गुरु गोरख-नाथ के अनुयायी, जो कि कान में मुद्रा डाले रहते हैं। उनसे हमारी बातचीत हुई बड़े प्रेम से और उसने यह पूछा कि यह मुँह पर क्या लगा रखा है? हमारी मुँहपत्ति की तरफ उसका इशारा था। मैं तो, जरा झिझका और चुप रहा। क्योंकि किसी भी प्रश्न का उत्तर देने से पहले कुछ अन्दर में झाँक लेना जरूरी होता है। अपने-आप को भी तोल लेना चाहिए और दूसरा सामने वाला किस मूड में प्रश्न कर रहा है, उसका क्या संकल्प-विकल्प है? क्या जिज्ञासा है या क्या दृष्टिकोण

है? उसको समझने मे थोडा बहुत इस तरह अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे यहा सिद्धान्त यह है समझ तो लो जल्दी और सुनो काफी देर तक—

"क्षिप्र विजानाति, चिर शृणोति"

लेकिन, हमारे साथ के एक साधु ने झटपट उत्तर दे दिया कि "यह तो हमारा निशान है।"

उसका कहने का मतलब तो यह था कि अहिंसा की बात इसके पीछे रही हुई है, इसके पीछे अहिंसा की प्रेरणाएँ छिपी हुई हैं, सूक्ष्म भावनाएँ प्रेरणाओं के रूप मे इसके साथ जुडी हुई हैं। सम्भव है, इतनी बात वह न समझ सके, इसलिए सीधे तौर से कह दिया कि यह एक जैन धर्म के साधुओं का निशान है, पहचान है। ऐसी बात कहने से, सम्भव है यह जल्दी समझ जावे और इसलिए उसने जल्दी मे उत्तर दे दिया।

हमारे साथी ने उत्तर दिया, तो वह खिलखिलाकर हसा, मजाक किया और कहा "यह कैसा निशान? यह तो अस्थायी निशान है! कपडा लगाया और लगा कर अगर उतार दिया गया, तो बस निशान गायब! निशान तो देखिए हमारा है! हमने कान मे ही मुद्रा डाल ली है। हम कहीं भी रहे, किसी भी हालत मे रहे, रात को सो भी जावे, तो भी हमारा निशान सुरक्षित है। और, अगर कभी मुद्रा निकाल भी ली जावे, तो भी, हमारे ये फटे कान बता देगे कि यह गुरु गोरखनाथ का अनुयायी है, उनकी सम्प्रदाय का साधु है।"

इस पर मैंने भी हँसकर कहा "यह मुद्रा इस कान में तो डाल ली है, पर आत्मा में भी कोई त्याग-वैराग्य, संयम और विवेक की मुद्रा डाली है या नहीं ?

यह ठीक है कि एक कपड़ा इधर-उधर हो सकता है, इसकी कोई खास बात नहीं है। और, अगर आपने इस निशान को बाहर में, कान में डाल लिया है, तो भी कोई खास बात नहीं है। क्योंकि, यह शरीर तो यहीं रह जाता है। यह तो मिट्टी का पिंड है। इसलिए इस प्रकृति की चीज को, मुद्रा को प्रकृति के इस शरीर के कान में डाल दी। प्रकृति की चीज प्रकृति के कान में डाल दी। मतलब यह कि पुद्गल की चीज पुद्गल में डाल दी। जड़ चीज को जड़ वस्तु में डाल दी। किन्तु, धर्म तो आत्मा की चीज है। वह यहाँ मुद्रा में कहाँ पड़ा है ? वह तो संयम और विवेक में है। इसका भी तो विचार करना चाहिए ?"

इतनी बात सुनी उसने और विचार में पड़ गया। थोड़ी देर कुछ सोचकर कहने लगा कि बात तो आप की ठीक है। आखिरकार, ये सब निशान या तो शरीर पर पड़े रहते हैं या शरीर के अन्दर डाल लिये जाते हैं। लेकिन, जबतक कि आत्मा में कोई मुद्रा नहीं डाली जाती और जब तक अन्तरंग जीवन में कोई चीज नहीं आती, तब तक कुछ बनना-बनाता नहीं है।

ऐसा दृष्टिकोण जो हमारा है, उसको ध्यान में रखकर हमारे आचार्यों और भारतवर्ष के ऋषियों, मुनियों और महर्षियों के सामने जब यह प्रश्न आकर खड़ा हुआ कि धर्म क्या चीज है ? तो उन्होंने कहा धर्म तो एक महान

वस्तु है। वह अनन्त सत्य है, जिस में कि हम अपने इस आत्मा को रमण करा रहे हैं। आत्मा की अनन्त-अनन्त शक्तियों को जागृत करना, इसका नाम है धर्म।"

आत्मा में जो ज्ञान-शक्ति रही हुई है, उस ज्ञान को अगर आप जागृत कर रहे हो, अपने चिन्तन को विकसित कर रहे हो और वह चिन्तन अपने भी उद्धार के लिए और दूसरों के भी कल्याण के लिए आ रहा हो। साधना के मार्ग पर आप ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहे हो, त्यों-त्यों आपकी वासनाएँ कम होती चली जा रही हो, काम, क्रोध, मद, मोह और लालच की वृत्तियां मिटती जा रही हो और जहा कहीं आप खड़े हो जावे, तो आपकी करुणा से वहा का वातावरण शीतल और सुन्दर बन जावे और दूसरो के दुखो के घावों पर प्रेम के मरहम का काम दे। आपका ज्ञान आप जिस परिवार मे रह रहे हो, उस परिवार के अन्दर मशाल की तरह जलता रहे, जिस समाज मे या जिस राष्ट्र में आप रह रहे हों, उस समाज और राष्ट्र मे आपका वह ज्ञान मशाल की तरह जलता रहे और जब भी कोई भूला-भटका दिखाई दे जावे, तो उस ज्ञान की रोशनी मे वह अपना मार्ग तलाश कर सके। शुभ प्रेरणाए, सद्भावना और शुभ सकल्पो के सुन्दर वातावरण की भूमिका यदि जीवन मे उसे मिल रही है, तो समझ लेना चाहिए कि आप अपनी आत्मा मे रहे हुए अनन्त-अनन्त धर्म को जागृत कर रहे हैं, और अनन्त-अनन्त आत्माओं मे रहे हुए अनन्त-अनन्त धर्म को भी जागृत कर रहे हैं।

इस प्रकार, जब मनुष्य अपने अन्तरग की गहराई मे जाता

है, तो सब मे पहले वह अपने ऊपर विश्वास करता है, आत्मा की शक्ति पर विश्वास करता है और यह विचार करता है कि "मैं तुच्छ नहीं हूँ, दीन नहीं हूँ। मै इस तरह से, ससार मे भिखारियों की तरह मे ठोकरें खाने के लिए नहीं हूँ। मेरा जीवन इस ससार के अन्दर गली-कूचों मे भटक-भटक कर वर्बाद हो जावे, इसके लिए मै नहीं आया हूँ। मै आत्मा हूँ और आत्मा वन कर इस ससार मे आया हूँ। आत्मा का अर्थ है ससार की एक सर्वश्रेष्ठ शक्ति, सब मे बडी ताकत। इतना महान और विशाल जो ऐश्वर्य है, इस आत्मा के रूप से मैने प्राप्त किया है और इसलिए अपने-आप पर विश्वास रखना, अपनी आत्मा की शक्ति पर विश्वास रखना, यह एक महान धर्म है।'

हजारों साधक, सब-कुछ पढने के बाद, अनेकानेक शास्त्रों के पढ जाने के बाद और महान से महान गुरुओं की शरण में जाने के बाद, इधर उधर जो कि धार्मिक रूप मे बडी लम्बी-चौडी क्रियाकाण्ड की तालिकाएँ हैं, उन सबको पढने के बाद भी अन्दर से खोये-खोये से रहते हैं। ऐसा मालूम होता है कि शरीर बाहर मे तो बहुत फूल रहा है मोटे लालाजी की तरह। पर, अन्दर से खोखला होता जा रहा है और शरीर अगर ऐसा हो जाये, तो क्या उसे कोई ठीक कहेगा?

ऐसा शरीर अगर फूलना शुरू हो जावे तो चिन्ता की बात हो जाती है। डाक्टर को लोग बुलाते है, वैद्यों से दवाइयाँ लेते हैं, प्राकृतिक चिकित्सा भी आजकल लोग करने लगे हैं और इस तरह वे अपने वजन को कम करने का प्रयत्न

करेंगे और कोशिश करेंगे कि किसी तरह से यह वजन कम हो जावे, शरीर का यह फुलाव कम हो जावे।

मैंने एक भाई को देखा। जब हम शौच को जाते थे, तो उसे क्या देखते हैं कि वह हाफते-हाफते दौडा-दौडा आता और रोज आता। कई दिनो तक हम उसे इसी तरह से देखते रहे। एक दिन मैंने पूछा उस से "ऐसा आप क्यो कर रहे हो?"

उसने कहा "महाराज, चरबी शरीर की बहुत बढ़ गई है, इसलिए इसको घटाने के लिए ऐसा करता हूँ।"

मैंने कहा "इसको घटाने के लिए इतना करते हो, तो इसका अर्थ है कि शक्ति और चीज है और चरबी और चीज होती है। बाहर का कलेवर और चीज है और अन्दर मे जो शक्ति है, वह और चीज है।"

शक्ति का ह्रास नही किया जाता। चरबी इसलिए घटाती जाती है कि शक्ति बनी रहे। बाहर का मोटापन शक्ति के ह्रास का कारण है। चरबी जरूरत से ज्यादा बढ़ रही है, इसका अर्थ यह है कि शक्ति के लिए एक चैलेंज दिया जा रहा है कि इस मोटेपन के कारण इधर-उधर काम करने लायक नही रहोगे।

इसी तरह से धार्मिक और कर्म के क्षेत्र मे भी बात है। धार्मिक और कर्म-क्षेत्र में भी कुछ बहुत लम्बे-चौड़े क्रियाकाड, कायदे-कानून, बहुत लम्बी-चौडी सामाजिक व्यवस्थाएँ और इसी प्रकार के नियम और उपनियमो का एक जगल खड़ा

कर देते हैं। ऐसा मालूम पडता है कि धार्मिक क्षेत्र का बाहरी शरीर बहुत फूल गया है। साधक पर वह इतना बडा कलेवर जो बढ गया है, अगर अन्दर में शक्ति नहीं रही है, तो यह ऊपर का नियमोपनियम का बोझा उसकी अन्दर की शक्ति के लिए एक प्रकार का चैलेंज है। वह बोझा उसे खा रहा है। ह्रास हो रहा है उसके अन्दर में। इसलिए हमें अपने-आपको समेटना चाहिए और ठीक अपनी शक्ति को जागृत करना चाहिए। अन्दर में जो खोखला होता चला जाता है, तो वह बरस-के-बरस बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ और सत्तर बरस तक बीतने और क्रियाकाड करने के बाद भी प्राणहीन-सा रहता है, अन्तर की शक्ति जागृत नहीं हो पाती है।

एक साधक, जिसकी कि पचास साठ बरस की उम्र हो गयी है। उसने अध्ययन भी किया, विचार भी किया, सब-कुछ किया। एक दिन सम्यग दृष्टि की बात चल पडी, तो उसने कहा "मालूम नहीं, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ भी कि नहीं?"

कर रहे हैं ऊपर के साधन। सामायिक, पोषध, दया, दान करते-करते जीवन गुजारा। पौषध भी किये, कितने ही शास्त्रो का अध्ययन भी किया और आखिर में साठ-सत्तर बरस की उम्र में भी वही पहले पहाडे का प्रश्न है कि सम्यक्त्व भी प्राप्त हुई है कि नहीं? कुछ पता नहीं।

मैंने कहा इससे बढकर दयनीय स्थिति किसी साधक की हो नहीं सकती। पचास बरस से धर्म की यात्रा करते आ रहे हैं, सामायिक, पोषधव्रत, प्रत्याख्यान सभी-कुछ करते आ

रहे है, लेकिन इतनी वडी लम्बी यात्रा के वाद भी अगर उसे यह नही पता कि मैंने कुछ पाया है कि नही, तो यह कैसी वात है ? कैसा जी न है ?"

अपने ऊपर ठीक विश्वास नही आ रहा है। अपनी शक्ति का अन्दाजा लगा नही पा रहे है और वह ज्योति, जो हम जला रहे हैं, वह अन्दर मे भी चमक रही है कि नही, हमे कुछ मालूम नही होता। यह तो वडा खराव काम है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम वाहर मे इतने-इतने वरसो तक कठोर साधना मे जीवन गुजारने के वाद भी, अगर यह निर्णय नही कर पाते है, तो क्या अर्थ निकलेगा इसका ?

एक भक्त वात करने लगे एक विचारक के साथ। सद्-भावना और सहानुभूति उनके मन मे थी और वड़े निराश और वडे हताश-से मन मे थे वह। विचारते थे कि इस जीवन का भी वेडा पार होगा कि नही ? और उस दिन वह वाते करते हुए कहने लगे कि "महाराज, मेरे को कभी केवलज्ञान मिलेगा कि नही मिलेगा ?"

मैंने कहा 'तुम्हारी वात तो मै नही कहता, पर अपनी वात जरूर कह सकता हूँ कि मुझे तो केवलज्ञान का प्रकाश जरूर मिलेगा और अवश्य मिलेगा।"

वह कहने लगे "इतनी वडी और पक्की वात ? आपने इतनी दृढता की वात कही कि जरूर मिलेगा ! क्या जरूर मिलेगा आपको ? आप ऐसी दृढता से कैसे कह सकते है ?"

"मिलेगा और जरूर मिलेगा' मैंने दोहराते हुए कहा। मुझे अन्तर में पूर्ण विश्वास है। अगर मुझे विश्वास हो जाता पहले कि केवलज्ञान का प्रकाश मिलेगा या नहीं, तो मैं तो यह लबादा छोड़कर भाग जाता। अगर यह विचार जीवन में चल रहा है कि वह प्रकाश और वह महाशक्ति आखिर हमें मिलेगी कि नहीं मिलेगी? अगर हम ऐसे निराश और हताश चल रहे हैं जीवन के क्षेत्र में, तो इसका अर्थ क्या है? फिर हम यह नाटक जीवन में क्यों करते हैं? यह तमाशा क्यों करते हैं। क्यों यह डमरू बजाते हैं और भीड़ इकट्ठी करते है?"

मैंने आगे कहा "वह रस का झरना तो बह रहा है अन्दर से, पर उस अमृत-रस के झरने का आनन्द भी तो प्राप्त होना चाहिए! तुम्हें विश्वास नहीं होगा। आप खाना तो खा रहे हैं, पर भूख मिटेगी कि नहीं, इस पर भी अगर भरोसा नहीं, तो बड़ी गजब की बात है! भूख लगी है और बहुत सुन्दर थाल परोसकर किसी मेजबान ने मेहमान के सामने रख छोड़ा और खाने वाला घरवाले से पूछता है 'यह भोजन तो परोस दिया है आपने, पर यह बताएँ कि इसको खाने से भूख मिटेगी या नहीं?' क्यों साहब, ऐसा प्रश्न किया कभी आपने? नहीं किया, तो खाने के लिए जब आप घर जावें, तो पूछ लिया कीजिये माता है परोसने वाली खाना, तो उससे, और पत्नी परोसे, तो उससे कि इस खाना खाने से भूख मिटेगी कि नहीं मिटेगी?"

लेकिन, आप कहेंगे कि ऐसा पूछ कर पागल थोड़े ही बनना है। बेवकूफी में नाम थोड़े ही लिखाना है। इस कारण से

मूर्ख नहीं बनना है, तो इसीलिए तो आप प्रश्न नहीं करते हैं कि भूख मिटेगी कि नही ?

आप इस क्षेत्र मे तो इतने चतुर है। आप जानते हैं कि जब भोजन किया है, तो आखिरकार भोजन जो है, अपना वह प्रभाव तो डालेगा ही डालेगा इस शरीर पर और भूख मिटेगी ही मिटेगी उससे। इसके सम्बन्ध मे प्रश्न करना गलत है।

पर, मैं पूछूँ आप सामायिक करते जाते हैं, मालाएँ फेरते जाते है, भगवान् का भजन, ध्यान, चिन्तन और मनन भी करते जाते है, अमृत-रस के तुल्य यह सारा आहार अन्दर उँडेलते जाते है, और दस, बीस, तीस, चालीस और पचास बरस तक यह उत्तम भोजन अन्दर डालते चले जाते है। फिर भी, प्रश्न करते है कि नैया किनारे लगेगी कि नहीं ? फिर भी प्रश्न है कि केवलज्ञान मिलेगा कि नहीं ? प्रभु का साक्षात्कार होगा कि नहीं होगा ? इसका मतलब तो यह हुआ कि आप रोज-रोज भोजन करते है, रोज-रोज अन्दर मे तप, जप, सयम एव शुद्ध भावो का या कि अपनी साधना का रस उ डेल रहे है, फिर भी आप अगर कुछ गडबड मे है, तो इसका अर्थ यही है कि या तो आपकी यह भोजन की व्यवस्था ठीक नहीं है या कहीं कुछ गडबड हो रही है। उस हालत मे व्यवस्था के अनुसार ठीक-ठीक काम नहीं हो रहा है, तो इस तरह से तो कुछ अर्थ नहीं है जीवन का।

मैं कह सकता हूँ कि आत्मा के अनन्त-अनन्त गुण है,

जो इस आत्मा में छिपे हैं और जिन गुणों के विकास को ही हम धर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त कोई धर्म की अलग परिभाषा नहीं है। जिन साधनों से वे गुण जागृत होते हैं, उनको भी धर्म कहते हैं—

"धर्मसाधनत्वाद् धर्मः"

—आचार्य हरिभद्र

पर, मूल में तो आत्मा की अनन्त-अनन्त शक्तियों का जो विकास है, वही एक वास्तव में धर्म है।

तो, इसमें हरेक साधक के लिए सबसे पहले जरूरी है कि वह अपने-आप पर भरोसा पूरा रखकर चले और अपने साधनों पर विश्वास रखकर चले। जो कुछ भी वह कर रहा है, उसका निर्णय कर ले, उसे जांच ले और परख ले। पूरा निर्णय, जांच और परख करने के बाद भी अगर वह विश्वास नहीं कर रहा है, तो यह गड़बड़ की चीज बन जाती है।

भगवान महावीर ने इसके लिए बहुत बड़ा अच्छा रूपक बताया है। भगवान महावीर अपने इस महान जीवन में एक बहुत बड़े दार्शनिक हैं और जब हम खड़े होते हैं उनके सामने, तो ऐसा मालूम होता है कि हिमालय के सामने हम चींटियों के समान खड़े हैं। साथ ही उनका त्याग, वैराग्य और साढ़े बारह वर्ष के कठोर साधनामय जीवन के सामने जो जीवन उन्होंने हमें दिया है साधना के मार्ग में उस रूप में भी अगर हम अपने विषय में सोचते हैं, तो ऐसा लगता है कि

एक बहुत बडा दावानल जहा उनके जीवन मे साधना का जल रहा है, वहा हम उनके सामने मात्र बुझी हुई चिनगारियो के रूप मे पड़े हैं ।

पर, एक बात जरूर है कि साथ-ही-साथ वे अपने समय के एक बडे कहानीकार भी थे। बात तो मै कह गया हूँ और सम्भव है कि दार्शनिक, योगी और केवल ज्ञानी के रूप मे ही उन्हे सुनना आप ज्यादा पसन्द करे और कहानीकार कह दूँ, तो आपको अटपटा मालूम पड़े । पर, मैं समझता हूँ कि जीवन के अन्तर्द्वन्द्वो के गहरे संघर्ष के पवित्र सन्देश को जब वह जनता के सामने रखना चाहते है, तो ऐसे विलक्षण भाव से रखते है कि कुछ पूछिए नही। सूत्र-ग्रन्थो मे कुछ छोटी-छोटी कहानियाँ जो कि कुछ ऐतिहासिक और कुछ काल्पनिक रूप मे हैं, उनके द्वारा जीवन का विशाल सन्देश जब वे इस जग के सामने रखना चाहते है, तो कच्चे धागे के सहारे एक हिमालय उतर आया है, ऐसा जान पडता है।

उन्होने कहा साधको को, जिनमे श्रावक और सन्त दोनो थे, कि दो मित्र, जो कि ऊँचे घराने के थे, बड़े दोस्त थे आपस मे। हर जगह साथ रहते थे। खेल-कूद मे, इधर-उधर जहाँ-कही भी जाते, साथ-साथ रहते। एक दिन घूमने के लिए वे वन मे गये। दिन भर घूमे, फिर आनन्द मे इधर-उधर, खाया, पिया और मौज उडाई कुछ देर हँसे, कूदे और नाचे। फिर वहाँ घूमते-घूमते क्या देखा कि मोरनी के अण्डे एक जगह रक्खे हुए थे दो। उन्होने वह दोनो अण्डे उठा लिये। एक ने कहा यह मैं ले लूँगा और दूसरे ने कहा यह एक मै ले लूँगा। मै

मोरनी को पालना पसन्द करता हूँ। इसमें से मोर निकलेगा, तो उस मयूर को हम नृत्य सिखावेंगे। पुराने समय में भारतवर्ष में मयूर के नृत्य का शौक बहुत था लोगों को और बड़े बड़े घरानों में इसके लिए मयूर रखे और पाले जाते थे। वहा उन्हें नृत्य-कला भी सिखाई जाती थी और इस तरह से इसमें मनो-विनोद का, आनन्द का भाव उनका रहता था।

तो, दोनों अण्डे वे ले गये साहब! और दोनों ने उन्हें, जो मुर्गी पालने वाले थे, उनको दे दिये पालने के लिए। उन्होंने कहा कि "हमारे इन अण्डों को ठीक रूप से सेवन कराना मुर्गी से और समय पर जब मयूर निकले तो उनकी ठीक तरह से सुरक्षा करना।"

अब एक मित्र एक रोज वहाँ जाता है देखने के लिए और देख जाता है अपने अण्डे को कि मेरा अण्डा ठीक है। वह घर चला जाता है।

दूसरा जाता है और जाकर देखता है उसे और देखने के बाद विचार करता है कि यह तैयार हुआ कि नहीं? वह उसको उठा लेता है और देखता है कि कुछ वजन बड़ा कि नहीं बढ़ा? कुछ मालूम भी होता है कि नहीं या कुछ बनता भी है इसमें कि नहीं? और, ऐसा सोचकर वह उसको इधर-उधर करता है, पर फिर भी आवाज उसमें नहीं आती।

अगले दिन वह फिर आता है और सोचता है आज तो कुछ बढ़ा होगा? इस तरह से उसने उसे फिर उठाया और

घुमा-घुमा कर और हिला-हिला कर देखा। इस तरह से देखने, हिलाने और घुमाने से वह अण्डा सड़ गया और जब सड़ गया, तो पालने वाले ने उसे उठाया और फेंक दिया बाहर।

लेकिन, जो पहला मित्र था, वह विचार करता है कि "यह तो प्रकृति की चीज है। इसमें इतना अधिक अविश्वास करने की जरूरत नहीं है। प्रकृति अपना काम बिलकुल ठीक से करेगी और मुझे आशा है कि अगर इसका ठीक रूप में पालन-पोषण होगा, तो निश्चय ही अण्डे में से मोर निकलेगा।"

एक दिन वह खोल टूटा उस अण्डे का और उसमें से बच्चा निकला। जिस दिन उसने देखा उसे, तो उसके हर्ष और आनन्द का पारावार नहीं रहा। ठीक रूप में पालन-पोषण किया और जब कि वह ठीक रूप में तैयार हुआ और बड़ा हुआ, तो उसे नृत्य-कला सिखाई गई। धीरे-धीरे नृत्य-कला सीखकर जब वह इस कला में निष्णात हो गया, तो उसके नृत्य का प्रदर्शन करने के लिए उस मित्र ने एक बड़ा आयोजन किया। अपने सभी परिचितों और मित्रों को निमन्त्रण दिया। वे सब महमान आये। उस मयूर का नृत्य वे देखते हैं और सभी वाह-वाह करते हैं। उसकी बुद्धि की प्रशसा करते हैं। इस रूप में वह भी आनन्द से गद्गद् हो जाता है और सब दर्शक भी आनन्द-विभोर हो जाते हैं। पर, उसका वह दूसरा मित्र अपने मन में दु ख, ग्लानि और क्लेश का अनुभव करता है। ईर्ष्या भी उसके मन में आती है कि उसको तो मोर मिल गया, पर मेरे को नहीं मिला।

भगवान् महावीर कहते हैं कि जीवन के क्षेत्र में भी ऐसे ही चलो। बच्चा जब जन्म लेता है, तो घर में एक आनन्द और हर्ष की हिलोर आ जाती है और उस सम्बन्ध में पहले से ही अगर आप संकल्प-विकल्प में पड़ जाते हैं कि यह जीएगा कि नहीं? घर में यह रावण बनकर आया है कि राम बनकर आया है? क्या बनकर आया है? तो इसका तो कोई अर्थ नहीं है इस जीवन में। विश्वास रक्खो। अगर तुम योग्य पिता हो तो यह विश्वास रखकर आप चलें कि अगर इसका निर्माण मैं ठीक ढंग से कर सका, तो यह ठीक ही होगा। इसलिए इसका निर्माण करें आप ठीक ढंग से। तुम्हारे अच्छे संस्कार, तुम्हारे जीवन के अच्छे और ऊँचे विचार उसे मिलेंगे अवश्य मिलेंगे, तो वह क्यों बिगड़ जाएगा? अगर बिगड़ेगा, तो तुम्हारी गलतियों से बिगड़ेगा।

संसार में हर पुत्र चाहता है कि पिता उस पर विश्वास करे, उसकी उच्चता और पवित्रता पर माता विश्वास करे, उसका बड़ा भैया उस पर विश्वास करे, परिवार वाले उस पर विश्वास करें और वे सब मिलकर ठीक रूप में उसके लिए वातावरण तैयार करें, ताकि वह उस ठीक वातावरण में ठीक ढंग से अपना उत्थान कर सके।

रखकर चलना पड़ेगा। हर पुत्र को पिता पर और हर पिता को अपने पुत्र पर, और हर भाई को अपने भाई पर विश्वास रखकर चलना पडेगा।

अगर जीवन के इन मधुर सम्बन्धों मे दोनों ओर अविश्वास की स्थिति परस्पर मे बन जाए, तो मै समझता हूँ कि जीवन की ऐसी भयकर दुर्घटनाएँ होगी कि ससार एक इञ्च भी आगे नही बढ़ सकेगा। घर मे रहते हुए भी एक-दूसरे से सशक और भयभीत रहने से ऐसा मालूम पड़ेगा कि मानो राक्षस की नगरी लका मे रह रहे हो। कैसी विनाश की बात है यह ?

हम देखते हैं कि एक तरफ रामायण भी पढ लेते है लोग। और, दूसरी तरफ क्या देखते हैं कि हमारे यहाँ राजा परदेशी की ..ए नी भी पढ लेते हैं। फिर, जब वर्णन आता है, तो हमारे ही सगी-साथी साधु भी राजा परदेशी की कहानी को जोर-जोर से हल्ला मचा मचा कर कहते जाते हैं कि "सूरीकन्ता ने स्वार्थ-वश अपने ही पति का गला घोट दिया। यह ससार खुदगर्जी का है और कोई किसी का नही। स्त्री नरक की खान है। और यह है, और वह है।"

तो, सुनते रहे साहब ! मैने अपने साथी से कहा कि "इस सारे ससार मे अब यह सूरीकन्ता ही रह गई है क्या ? सीता का मूल्य, द्रौपदी का मूल्य नष्ट हो गया है क्या ? इस विराट् जगत् के अन्दर उन हजारों नारियो का जीवन, जिन्होने अपने जीवन को, अपने व्यक्तित्व को और अपने सब-कुछ को लीन कर दिया है

पति के प्रकाश में, पति के जीवन में एकाकार कर दिया है अपने सर्वस्व को, तो उनके जीवनों का भी कोई मूल्य है या नहीं है ? या केवल सूर्यकान्ता का ही मूल्य रह गया है आपकी आँखों के सामने ?"

बात यह है कि जब कोई बहुत बड़ा महल होता है, तो उसमें रसोई घर भी रहता है, आगन्तुक के लिए विश्राम-स्थल भी होता है उसमें और बैठक भी होती है शयनागार भी होता है, भंडार-गृह भी रहता है उस महल में। इस प्रकार उस विशाल महल के अन्दर सुन्दर-से-सुन्दर आराम-गृह भी है, सुन्दर-से-सुन्दर सजावट का सामान भी है। यह सब कुछ सत्य है, पर इसके साथ ही उस बड़े महल में एक कोने में पाखाना भी होता है। वह भी उसमें रहता ही है। और, गन्दी मोरियाँ भी रहती हैं।

अब आप विचार करें कि महल के अन्दर जब कोई आदमी आये, तो उस स्थिति में वह आदमी उन गन्दी मोरियों की तरफ ही क्यों भाग-भाग कर जाए ? और जो गन्दी चीज है, उनकी तरफ ही क्यों दौड़-दौड़ कर जाए ? आखिरकार, उस महल में जो सौन्दर्य है, वह भी तो अपना मूल्य-महत्त्व रखता है कुछ ? उस का भी कुछ अर्थ है या नहीं जीवन में ?

इसी तरह यह विराट संसार भी महल है एक तरह से। ऊँचे-से-ऊँचे और पवित्र-से-पवित्र जीवन चमक रहे हैं इस में। यह ठीक है कि गन्दी मोरियाँ भी जो चार बह रही हैं इस में

गन्दे और बुरे मनुष्यो के रूप मे, कुछ गन्दे प्राणियो के रूप मे। पर, उन्ही का हल्ला क्यो किया जाए ?

अगर हम सूरीकन्ता को ही याद करते रहे, उसे रोते ही रहे कि जिससे हर पति को यह डर रहे कि कौन पत्नी न जाने कब हमारा गला घोट देगी ? तो, फिर तो जीवन मे कोई रस ही नही रहेगा ? इसी प्रकार कुछ गलत बाते पतियो के बारे मे भी अगर देखे, तो ऐसे भी उदाहरण हैं ससार मे कि जिन पतियो ने पत्नियो के न जाने कितने गले घोटे हैं। इसको लेकर यदि पत्नियाँ यह सोचती रहे, यह डर अपने मन मे बनाये रक्खे कि न मालूम कौन पति किस समय क्या कर देगा ? और इस तरह सभी परस्पर शका की स्थिति को बनाये रक्खे, तो इसका अर्थ कुछ नही रहेगा इस जीवन मे ?

मैं कह रहा था कि ससार के क्षेत्र मे भी आदमी को अपनी उस एक शक्ति की प्रगति करनी पडेगी, जिसे हम विश्वास कहते हैं। और, आत्मा के क्षेत्र मे भी हमे उसी शक्ति को जागृत करना पडेगा, जिसे हम विश्वास की शक्ति कहते है। आत्म-विश्वास को छोडकर हम न ससार के क्षेत्र मे फल-फूल सकते हैं और न धर्म के क्षेत्र मे ही। सारा विश्व, सारा समाज, सारा राष्ट्र और उन की एक-एक इकाई एक-दूसरे के विश्वास पर खडे हैं।

इसी तरह से हमारा आत्म-जीवन है। इसका सबसे बडा प्रकाश यह है कि मनुष्य अपनी शक्तियो और ताकतो पर विश्वास करे। वह अपने इस जीवन के अन्दर क्या कर सकता

है, इस पर उसे विश्वास करना ही चाहिए। इसे हम दर्शन-शक्ति कहते हैं। और, ऐसा तो हम सुनते आये हैं कि—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

—तत्त्वार्थसूत्र, १।१

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—यह मोक्ष का मार्ग है।

सम्यग्दर्शन का मतलब क्या है? सम्यग्दर्शन आत्मा का एक धर्म है, एक शक्ति है। जब मनुष्य अपनी आत्मा का विश्वास लेकर खड़ा होता है साधना के क्षेत्र में, जीवन के क्षेत्र में दृढ़ संकल्प लेकर खड़ा होता है और विचार करता है कि मेरे जीवन का ध्येय यह है, मेरे जीवन की मंजिल यह है। मुझे इस आत्मा से उस परमात्मा की [illegible] को प्राप्त करना है। संसार की कोई भी शक्ति मुझे उस अधिकार से, उस परम तत्त्व की प्राप्ति के मेरे अधिकार से, [illegible] से विरत नहीं कर सकती है। यह तो मेरा जन्म-जात अधिकार है। यह मेरा स्वरूप है। इस अधिकार को लेने के लिए ही यह सारी तैयारी हो रही है। इतना दृढ़ विश्वास जब साधक की अन्तरात्मा में जागृत होता है, तो हम समझते हैं कि वह सम्यग्दर्शन अन्तरंग आत्मा को छू जाता है।

वह सम्यग्दर्शन के बल से जीवन की सही दिशा की ओर बहने लगती है। इसी का नाम जैन-दर्शन की भाषा मे सम्यग्ज्ञान है।

इसी प्रकार आचरण जो है, सम्यक् आचार जिसे कहते हैं, वह भी एक धर्म है इस आत्मा का। अर्थ क्या है इसका? मनुष्य मे अहिंसा की शक्ति रही हुई है, सत्य की शक्ति भी रही हुई है, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, निर्लेपता की शक्ति भी छिपी पड़ी है। उदारता की, सन्तोष की और करुणा की शक्ति का स्रोत भी छिपा पडा है। जब-जब मनुष्य उस अहिंसा की शक्ति को विकास मे लाता है, तब-तब उसका अहिंसा का धर्म जागृत होता जाता है। मनुष्य जब उस सत्य की शक्ति को उभार लेता है, तो बाहर मे वह असत्य के परदे के टुकड़े-टुकड़े कर देता है और वह शक्ति न भय के सामने डर खाती है और न ससार के लालच और प्रलोभनो के सामने डर खाती है। वह ससार के भयो को भी रौंदती हुई चली जाती है और दूसरे सभी प्रकार के लालच और प्रलोभनो को भी ठुकराती हुई निकल जाती है। इस तरह जितने-जितने सत्य का वहा विकास हो रहा है, उतना-उतना उसके अन्दर आचार-धर्म का विकास हो रहा है।

मनुष्य केवल वासनाओं का गुलाम ही नहीं है। जीवन मे एक दिन आये और दुनिया-भर के गन्दे कर्मों मे, गन्दी मोरियो मे पडकर एक दिन यो ही मर जाए, केवल जीवन की कहानी इतनी ही नहीं है। क्योंकि, हम देख रहे है कि भगवान महावीर भी एक दिन ससार के रूप मे आये थे। उन्होने भी महान् क्रूर कर्म सञ्चित किये थे अपने अनेक जन्मो मे। पर अहिंसा धर्म के रूप को उन्होने एक दिन ऐसा विकसित

किया, अपने अन्य आत्म-धर्मों को वह प्रगति दी कि वासनाओं के द्वारा, भोग-विलास और क्रूर-कर्मों के द्वारा जो अनन्त-अनन्त काल से एक घेरा उनकी आत्मा पर पड़ा हुआ था, उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। तो, वह भी तो आत्मा ही थे! वह सब आत्मा की अचिन्त्य शक्ति का चमत्कार ही तो था!

तो, जो भगवान महावीर कर सकते हैं, वह हम क्यों नहीं कर सकते? इसका मतलब यह नहीं कि महावीर की आत्मा किसी और चीज से बनी थी और हमारी आत्मा किसी और चीज से बनी है? हम तो गारा मिट्टी के पुतले हैं और वह किन्हीं वज्र-तत्त्व या इस्पात और लोहे के बने थे ऐसी बात नहीं है। आत्मा में मूलत कोई भेद नहीं है। संसार भर की आत्माएँ एक ही स्वरूप में हैं। इसलिए भगवान महावीर ने यह आवाज लगाई थी—

एगे आया

—ठाणांग, १

"सारी आत्माएँ एक रूप हैं। सब का एक ही स्वरूप है। जो आत्मा मुझ में है, वही तुम में भी है। यह द्वैत कल्पना कि 'मैं,' 'मैं' हूँ और 'तुम,' 'तुम' हो सत्य नहीं है। जो मैंने पाया, वह तुम नहीं पा सकते—यह गलत चीज है। जहाँ तक मैं पहुँचा हूँ, वहाँ तक पहुँचने की तुम्हारे अन्दर भी शक्ति है, ताकत है। तुम भी उस केन्द्र तक पहुँच सकते हो। लेकिन अपनी इस शक्ति को जागृत करना और उसका विकास करना, यह तुम्हारा अपना काम है। इस शक्ति

का कोई बाहर से आकर विकास नहीं कर देगा। वह तुम्हें ही विकसित करनी होगी। मेरा काम तो केवल सन्देश देने का है, प्रेरणा देने का है, उस मार्ग को बता देने का है, जिस पर चल कर तुम उस परम-तत्त्व को प्राप्त कर सकते हो, जिसे मैंने प्राप्त किया है। पर, मार्ग तो तुम्हें ही तय करना पड़ेगा, औरों को नहीं तय करना पड़ेगा।"

कुछ लोग विश्वास करते हैं कि ईश्वर हमें उठा देगा। अमुक देवी देवता हमें उठा देंगे। कुछ देवी ताकत है, जो कि हमारे जीवन का निर्माण करेगी और इसलिए न तो हम हाथ हिलाएँगे, न चलेंगे-फिरेंगे, कुछ नहीं करेंगे। गठिया के बीमार की तरह, दरिद्रों की तरह पड़े रहेंगे। कोई दूसरा ही हमें चलाकर खड़ा कर देगा।

सम्भव है, दूसरे दर्शन में ऐसा विश्वास रक्खा गया हो, पर जैन-दर्शन में इस प्रकार के विश्वास को कोई स्थान नहीं है। इसमें ऐसा कोई विश्वास नहीं रक्खा गया है। वह तो सारी शक्ति, सारा उत्तरदायित्व, सारा बोझा मनुष्य के ऊपर डाल देता है। वह कहता है कि 'वह सारी ताकत जो-कुछ भी है, तेरे अन्दर ही है। मुझे कुछ नहीं करना है, मेरा काम तो बस इतना-भर है, गुरु का काम इतना-सा है कि वह यह बता दे कि वह तेरे अन्दर है, जिसे तू पाने के लिए छटपटा रहा है। अब उसे प्राप्त करना तेरा, केवल तेरा ही काम है।'

अगर इसको ठीक-ठीक रूप में आप निरीक्षण करें, तो यह स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि उत्तरदायित्व बहुत बड़ा मालूम

पड़ रहा है। पर, भारत के तत्त्व-द्रष्टा मनीषियों का कहना है कि जब किसी पर उत्तरदायित्व का बोझ डाला जाता है, तभी वह काम करता है। हर काम को खुद पुत्र तभी करने के लिए तैयार होता है, जब पिता वह भार उस पर डालता है। अगर पिता यह विचार करता चला जाए कि लड़के से यह नहीं होगा, वह नहीं होगा, तो फिर समझ लो, उससे वह नहीं होगा कभी भी।

इसलिए हर पिता का कर्तव्य है कि पुत्र पर समय पर जिम्मेदारी डाले। माता पुत्री पर बोझ नहीं डाले और घर का सारा काम खुद ही करती चली जाए और उसे स्नेह से या कि प्रेम से या कि यह सोचकर कि उस बेचारी लड़की से नहीं होगा, बस फिर उस लड़की की भी यही ठोठ बुद्धि बनी रहेगी। और, एक दिन कभी रोटी सेकने के लिए ससुराल में बैठेगी, तो वहाँ पास न कर सकने पर ससुराल वाले कहेंगे कि यह कहाँ से आई है? किस घराने की आई है? रोटी बनाना भी नहीं जानती। वह काम भी नहीं जानती, वह काम भी नहीं जानती। किसी काम के लायक नहीं है। आलसी बना दिया है इसे इसके माता-पिता ने। इस प्रकार सौ-सौ गालियाँ उसके माँ-बापों को सुननी पड़ेंगी।

इसलिए यह तथ्य दिन के उजेले की तरह साफ है कि जीवन में जब तक उत्तरदायित्व किसी पर नहीं डाला जाएगा, तब तक जीवन का निर्माण नहीं हो सकता।

इसी प्रकार, गुरु अपने शिष्य को आगे मोर्चे पर खड़ा न करे और वह खुद ही सारा बोझा लिए चला जाए, तो उस शिष्य की

बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति का विकास नहीं हो पाएगा। जीवन के संघर्षों से मोर्चा लेने की इच्छा-शक्ति उस में जागृत नहीं होगी। वह उस जीवन-क्षेत्र मे गड़बड़ाता चला जाएगा, लड़खड़ाता जाएगा और हर जगह गुरु को आवाज देता रहेगा। पर, जब गुरुजी का परलोक-वास हो जाएगा, तब कौन आड़े आएगा उस शिष्य के ?

तो, जीवन का यह एक निश्चित तथ्य है कि हर शिष्य पर या कि पुत्र पर जीवन के क्षेत्र मे जितना-जितना उत्तरदायित्व डाला जाता है, उतना उतना उसके जीवन का विकास होता चला जाता है।

जैन-धर्म का सबसे बड़ा सन्देश, सबसे बड़ा विश्लेषण और सबसे बड़ा विश्वास यह रहा है कि "वह गुरु या देवी देवताओं अथवा ईश्वर पर भार डालकर नहीं बैठा है। वह तो हर साधक पर ही उसका भार डालकर चलता है और कहता है कि तू ही अपने जीवन का भाग्य-विधाता है, सर्वेश है। जो तू चाहेगा, वही तू बन जाएगा। अगर तेरी रावण बनने की तमन्ना है। अगर तेरी तमन्ना है कि तू रावण की नगरी मे रहे, तो तेरा निवास रावण की लंका में भी हो सकता है और तू स्वयं रावण भी बन सकता है। और, अगर तू चाहे राम बनना, राम बनने की तेरी जिज्ञासा है, तो तू राम भी बन सकता है और अयोध्या मे भी रह सकता है। तू चाहे तो तेरा जीवन नरक मे भी जा सकता है और स्वर्ग की कामना है, तो स्वर्ग मे भी जा सकता है, वहाँ भी तेरा अधिकार हो सकता है। ये नरक और स्वर्ग, राम बनना

और रावण बनना, लंका में रहना कि अयोध्या में रहना, सब तेरी भावनाओं पर केन्द्रित है। भाग्य-विधाता है तू अपने जीवन का।

'जब तू देवत्व के गुण अपनी आत्मा में विकसित करता है, तो स्वर्ग तेरे जीवन में उतर आता है और जब तू अपने में से निकल कर बाहर भटकना शुरू होता है, तो तेरे अन्दर नरक का मार्ग भी तैयार होना शुरू हो जाता है। जब तू अभिमान, मोह, माया, लोभ, लालच में रहता है, तो नरक सिमट-सिमट कर तेरे पास आना शुरू हो जाता है, और जब क्षमा, शान्ति, विनय, नम्रता आदि में डुबकी लगाता है, अहिंसा, सत्य, सद्भावना और उदारता में निमग्न होता है, तेरा मन पवित्र भावना, पवित्र और ऊँचे संकल्पों में विचरण करने लगता है, तो संसार का स्वर्ग तेरे पास खिंच कर चला आता है। अगर तू प्रगति करता-करता अपने शुद्ध, सही स्वरूप में आ जाए, तो मोक्ष भी तू ही प्राप्त कर सकता है और इस तरह वह परमात्म-शक्ति, कहीं भी क्यों न हो, तेरे चारों ओर छाया की तरह घूमनी शुरू हो जाती है।"

कबीर से पूछा किसी ने कि 'तुम मन्दिर में क्यों नहीं जाते हो? और वहाँ जाकर परमात्मा की उपासना क्यों नहीं करते हो?'

तो, कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा [illegible] की तो बहुत है पहले ऐसी उपासना।"

तो अब क्या बात है? अब क्यों नहीं करते हो?"

"इतना निकट आ गया हूँ हरि के कि अब वह मेरे पीछे पीछे चलता है। जब मैं दौडता हूँ, तो पीछे-पीछे हरि दौडता जाता है कबीर को आवाज देते-देते। मुझे अब आवाज देने जैसी बात नहीं रह गयी है—

"कबीर मन निर्मल भया, जैसे गगा नीर।
पीछे लागे हरि फिरे, कहत कबीर-कबीर॥"

लेकिन, हम आज देखते है कई साधको को कि साधना का लम्बा क्षेत्र तय करने के बाद और जीवन की उन मजिलो को तय करने के बाद भी उन्हे पुकार लगानी पडती है कि आखिर जीवन की मजिल है कहाँ? मै जोर देकर कहूँगा कि यह जीवन की मजिल आप मे है। अपने जीवन को अपने स्वरूप मे डाल दिया जाय, तो बस बेडा पार है। इस को धर्म, सस्कृति या सभ्यता जो भी आप नाम देना चाहे, दे सकते है।

इस रूप मे, आप अपने जीवन को अपने स्वरूप मे डालने का प्रयत्न करे। यही हमारी साधना का चरम लक्ष्य है। यदि इसे प्राप्त कर लिया, तो आपका यहाँ भी कल्याण है और आगे भी कल्याण है।

# जीवन की कला

जब तक यह शरीर है और जब तक कि हम इस देह को लिये हुए हैं, तब तक हमारे सामने आहार का प्रश्न अनिवार्य रूप से खड़ा रहता है।

हमारा शरीर जितनी हरकत करता है और इस- [illegible] श्रम और मेहनत करता है, तो शरीर के तत्त्व [illegible] हैं और भूख उस तत्त्व की सूचना देती है। [illegible] गया है। भूख का अर्थ यह है कि यह संकेत है [illegible] कि शरीर का कुछ भाग क्षीण हुआ है और इसकी [illegible] पूर्ति होनी चाहिए, क्षति-पूर्ति के लिए कुछ प्रयत्न करना चाहिए। इस परिभाषा से आहार हमारे सामने आ खड़ा होता है।

इसमे ? अगर कोई बुराई हो, तो शरम हो। जब बुराई नहीं है, तो शरम भी नहीं आती है। प्यास लगा करे और मनुष्य बैठा रहे चुपचाप, पानी न पीए, मागे नहीं पानी। सकोच मे बैठा रहे, और प्यास मारता रहे। और, जब बात चले, तो वह कहे कि हम तो प्यासे मर गये। तो, पानी माग क्यों नहीं लिया ? वह कहे कि मुझे तो शरम आती थी !

मै समझता हूँ, वह आदमी ठीक तरह से अपने जीवन के लक्ष्य को समझा नहीं है। अपने जीवन के सम्बन्ध मे सही दृष्टि-कोण को अपनाया नहीं है उसने। प्यास रहने पर पानी पीए और पीए तो शरम और लाज की कोई बात नहीं है। क्योंकि, जितने भी दर्शन है ससार मे, वे सब मानते है कि यह तो एक शरीर की क्षति-पूर्ति के लिए आवश्यक-तत्त्व है। इसमें लजाने जैसी कोई चीज नहीं है। शरम होनी चाहिये बुरी बात के लिए। यह कोई बुरी बात नहीं है। यह तो आवश्यक तत्त्व की पूर्ति करना है।

अब सोचना यह है कि लजाना कहाँ चाहिए और साथ ही इस पर भी विचार करना है कि वह आहार कैसे प्राप्त किया गया है ? प्रश्न तो मुख्य यह है।

आहार करना तो बुरा नहीं है, लेकिन वह आहार कैसे आया है, कहाँ से आ रहा है, किस रूप मे आ रहा है ? जिस रूप मे आ रहा है, वह तुमने न्याय मे प्राप्त किया है या अन्याय मे प्राप्त किया है ? उस भोजन के पीछे किसी के आंसू तो छिपे हुए नहीं है ? और किसी का हा हा कार तो

नहीं चल रहा है इसके पीछे ? छीना-झपटी से, अन्याय-अत्याचार से तो प्राप्त नहीं कर लिया है वह ? अगर वह आहार इस तरह से प्राप्त किया गया है, तब तो तुम्हारी आत्मा के लिए शरम करने जैसी बात है, लज्जा करने जैसी चीज है और उस समय आत्मा में इतना बल होना ही चाहिए कि वह भूख तो स्वीकार करे, लेकिन उस गलत भोजन को, जो अन्याय, अत्याचार, आस्रव और हिंसा के तरीकों से आया है, ठुकराने के लिए तैयार हो सके।

जो भोजन न्याय से प्राप्त किया गया है, अपना परिश्रम जिसके पीछे रहा है और इस प्रकार अपने कर्तव्य और ड्यूटी को ठीक ठीक ढंग से अदा करते हुए जो आहार प्राप्त किया गया है, तो उस न्याय प्राप्त आहार का उपभोग करने का मनुष्य को अधिकार है। उसके इस अधिकार से कोई भी दर्शन उसे वंचित नहीं कर सकता, कोई भी संस्कार या परम्परा उसके इस हक को नहीं छीन सकते। कोई भी शासन-पद्धति, चाहे वह पुरानी हो या नयी हो, चाहे कोई इज्म रहा हो, लेकिन मनुष्य के इस अधिकार को कोई चुनौती दे नहीं सकते। अगर कोई देता है, तो मैं कहूँगा कि वह दर्शन, सही दिमाग का नहीं है।

जितने भी विचारक है, चाहे वे जैन-दर्शन के हों और चाहे वे किसी भी और दर्शन के हों, उन सब का कहना है कि मानव-जीवन के लिए आहार एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इस सम्बन्ध मे इन सब दर्शनो ने काफी चिन्तन और मनन किया है और इस रूप मे कहा है कि उसका स्रोत कहाँ से है? सबने इसी पर बल दिया है कि एक तो उस आहार का उद्गम कहाँ है? उसका उत्पादन कहाँ से हुआ है? वह उत्पादन अपना श्रम या पुरुषार्थ ले कर आया है या कि दूसरो का पुरुषार्थ है उसके अन्दर और उस पर अधिकार कर लिया गया है धोखे से? या कि उसके लिए छल-कपट या दगा-फरेब किया गया है, दूसरो के हक की रोटी को छीनकर अपने हक मे डाल लिया गया है? अगर ऐसा किया गया है, तो यह है उसके उत्पादन का एक दोप।

दूसरा दोप क्या है? वह यह है कि वह वस्तु, वह आहार अपने मूल रूप मे कैसा है? इसका भी विचार किया जाय। भोजन तो आ गया है, पर वह तामसी है और विकारोत्तेजक है। जब खाते है, तो वह ऐसा है कि तुम्हे भूख से ज्यादा खा लेने के लिए लालच आता है, तुम्हे प्रेरणा देता है कि भूख है जितनी, उस से अधिक खा लिया जाय।

माल है, अच्छी चीज है, इसलिए ज्यादा खा लिया, इस तरीके को खाने का तरीका नहीं कहते।

इसका अर्थ तो यह हुआ कि आपने उस चीज पर अधिकार नहीं किया है, पर उस चीज ने आपके ऊपर अधिकार कर लिया है। भोजन जो परसा गया है, उसके ऊपर आपको अधिकार करना चाहिए था। उसका नियन्त्रण आपको अपने हाथ में रखना चाहिए था, जितनी आवश्यकता आपके पेट को थी, उतना लेना चाहिए था और जब आवश्यकता समाप्त हो गई पेट की, तब उसको वहीं समाप्त कर देना चाहिए था। तुम्हें पूर्णत भोजन का अधिकारी बनना चाहिए था। नेता बनना चाहिए था उसका, लेकिन वह बात उलटी हो गई। भोजन ने अपना रूप-रंग दिखाकर या कि नखरा [illegible] कर, स्वादिष्टता का दुपट्टा डालकर आपके मन को [illegible] दिया। आपने मनुष्य के रूप से नहीं सोचा। साधारण पशु और प्राणी के रूप से सोचा। इसलिए भोजन ने आपके ऊपर अधिकार कर लिया।

इसके लिए पुराने सन्तों ने ठीक ही कहा है कि 'कुछ लोगों को भोजन खा जाता है और कुछ लोग भोजन को खाते हैं।'

भोजन करने के लिए भोजन करते हैं। इस दृष्टिकोण से अगर भोजन किया गया है, तब तो वे भोजन को खाते हैं। लेकिन, अगर आपका भोजन तो समाप्त हो चुका, अपनी भूख आप मिटा चुके और यह सोचा नहीं गया कि कितना है। खाना चाहिए ? स्वाद के चक्कर में पड़कर भूख से अधिक खा गये। फिर कहे कि अमुक जगह गया था, वहा एक बहुत बढिया चीज बनी थी, दूसरी भी चीजें बनी थी, पर, वे उतनी बढिया नहीं बनी थी, उतनी शानदार नहीं बनी थी। मैंने तो वही बढिया चीज खूब खाई। तो ये लोग भोजन को नहीं खाते है, भोजन इनको खा जाता है। फिर बीमार पड़ते है, अनेक बीमारियों के चक्कर में पड़कर अपना जीवन दुखदायी बना लेते हैं। अजीर्ण और कब्ज के शिकार हो जाते हैं और ये ही समस्त बीमारियों की जड़ है।

वह चीज जब सामने वाले के यहाँ नहीं रहेगी या कम आएगी, तो उसकी इज्जत के भी टुकड़े-टुकड़े कर देंगे। यह सोचकर खाते रहे, खाते रहे और खाने के बाद उसी चीज की फिर आवाज लगी। बिचारा घर वाला गड़बड़ाने लगा, तो ज्यों-ज्यों सूरत लटकती देखी कन्या-पक्ष वाले की, तो बरातियों को नया आनन्द आया और मन में उल्लास आया कि बस अब मुहर्रमी सूरत तो दिखाई देने लग गई है। आखिर जब दुबारा और तिबारा आवाज लगाई, तो वह चीज नहीं आई। सबको विश्वास हो गया कि यह चीज तो समाप्त हुई, तो कहने लगे, बस इतना ही तन्त है? इसी बूते पर सेठ बनते हो?

मैं समझता हूँ कि ऐसा भोजन आदर्श नहीं हो सकता। एक व्यक्ति ने आपके स्वागत-सत्कार और सुविधा के लिए भोजन तैयार किया है। पर, आप यह नहीं देखते। आप यह भी नहीं देखते कि वह पीछे बचेगा कि नहीं? दूसरों को भी जो उसमें से मिलने वाला है, वह मिलेगा कि नहीं? आप इसी को केवल स्वाद के नाते खाते चले जाएँ और इसके साथ ही जब वह समाप्त हो जाए तो हमेशा के लिए जब कभी प्रसंग आए, तो महाभारत के अध्याय की तरह उसे बाँचा करें अपने मित्रों और दोस्तों में उस किस्से को। तो, मैं यह पूछूँ कि यह भोजन किसी मनुष्य ने किया है या किसी पुराने जमाने के राक्षस ने भोजन किया है?

की इज्जत के टुकडे पड़े हों, उस हालत मे वह भोजन कितना ही आपने क्यो न किया हो, वह इन्सानियत का भोजन तो नही कहा जा सकता।

सिद्धान्त यह है जीवन मे कि भोजन वह खाते हैं, जो शानदार ढग से अपना पेट भरते हैं, न्याय-नीति और परिश्रम का ध्यान रखते हैं। और यह सोचते हैं कि इसके पीछे प्रेम की धारा बह रही है कि नही ? छीना-झपटी तो नहीं हुई है इसके पीछे ? यह इसे देखकर चलते हैं और खाते-खाते जब पेट इन्कार कर देता है, तो उसी समय खाना झटपट बन्द कर देते हैं। और, साथ ही यह भी सोचते हैं कि "चीज थोड़ी तो नहीं रह गई है, पीछे भी आदमी हैं, उनको भी भोजन करना है, बिचारी स्त्री जो सुबह से लगी है इस भोजन को तैयार करने मे, कई बहनें और भाई इसकी तैयारी मे लगे हुए हैं, उनको दस बज गये हैं, ग्यारह बज गये हैं और जीवन का, अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण भाग, एक महत्त्वपूर्ण समय जो काफी मूल्यवान् है, इस खाने को, इन चीजो को तैयार करने मे लुटा दिया है और अब वही भोजन तो तुम्हे परोसा गया है ?"

यह कहने मे मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं है कि भारत की नारी का दिल बहुत बडा है, अनुपम है। सब-कुछ आपको अर्पण करने के बाद भी अगर उसके लिए कुछ नही बचता है, तो वह नाक-भौं नहीं सिकोडेगी और अगर कुछ जूठन बच खुच रही है, तो उसी पर वह अपना गुजारा कर लेती है। उसने तो अपना नारी-जीवन सार्थक किया

है। सेवा-भक्ति की सुन्दर भावना में उसका जीवन ओत-प्रोत है।

गुजरे हजारों और लाखों वर्षों से यह नारी अपना जीवन इसी सुन्दर भावनामय वातावरण में गुजारती चली आई है। और यही हमारी सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक बनकर आज हमारा सिर ऊँचा किये हुए है। युग-युग से इस नारी ने यही उत्सर्ग का प्रेरणादायक तथा स्फूर्ति भरा जीवन बिताया है। इस रूप में वह अजर, अमर बन गई है। जब तक घर में दाना रहेगा, वह देती रहेगी और जब सब खा पी लेते हैं, तो हमारे जैसे भिक्षु भी पहुँच जाते हैं, तो उनके भी [illegible] करते हैं उस बेचारी को। पर फिर भी, उसका मन [illegible] नहीं होता है। वह तो शानदार और उदार [illegible] है। पीछे रूखा-सूखा जो भी कुछ रहेगा, [illegible] उसका उपयोग करेगी और यह भी सम्भव है, वह भी न रहे, तो [illegible] माथा नहीं ठनकाएगी।

पूछे। घर मे बूढे माता-पिता हैं, उनको पूछे। उनको खिलाया है कि नही, यह पूछे।

भारतीय सस्कृति मे एक बात आई है और यह बात आई है कि जब भोजन बने गृहस्थी के घर मे, तो किसका नम्बर पहले आना चाहिए भोजन करने के लिए ? कौन खाए पहले ? भोजन तो बन गया, लेकिन भोजन बनने के बाद मे कौन अधिकारी है सबसे पहले भोजन करने का ?

भारत के सास्कृतिक विचारकों ने कहा है सबसे पहले वह बाल-गोपाल है भोजन करने का अधिकारी। जो छोटी-छोटी इकन्नियाँ, दुअन्नियाँ घर मे घूमती रहती हैं। जिनको एक दिन रुपया बनना है। वे सबसे पहले अधिकारी हैं भोजन करने के। उनका भोजन करना ऐसा है, जैसे भगवान् की पूजा की हो। उनको पहले प्रेम से भोजन आपने कराया है, तो आपने देवी-देवताओ की पहले पूजा की है।

भारतीय सस्कृति की परम्परा मे सबसे पहला, सबसे बडा देवता जो कोई भी है घर मे, तो आपका वह मुन्ना है, और अगर वह मुन्नी है, तो वह भी अधिकारी है। वह अधिकार मुन्ना को मिले और मुन्नी को न मिले, ऐसा नही है। इस तरह मुन्ना-मुन्नी, चुन्ना-चुन्नी जितने भी हैं गृहस्थी के परिवार मे; उनको आनन्द-पूर्वक भोजन अगर कराया गया है, तो सारे घर के वायुमण्डल मे प्रेम और अमृत-रस की धारा बह जाती है।

और, जब वे ठीक तरह से भोजन से निपट चुके, तो अगला नम्बर आता है बड़े बूढ़ों का, जो घर में दादा-दादी, माता-पिता आदि के रूप में बैठे हैं। या कोई बीमार हो घर में इधर-उधर तो उसका नंबर आता है।

तो, इसके बाद कौन आता है साहब? वह आते हैं घर के नौकर-चाकर। पुराने युग में, दो तरह के नौकर होते थे। और अब भी होते हैं। कुछ नौकर ऐसे होते हैं, जो वेतन लेते हैं और अपने घर में भोजन करते हैं। और कुछ ऐसे होते हैं जो उसी घर में भोजन करते हैं जहाँ काम करते हैं। जो उस घर में भोजन करते हैं। घर के लोगों के लिए भोजन का नमूना [illegible] और [illegible]। और इन नौकरों के भोजन का नमूना [illegible]। ऐसा भी देखा गया है। यह हमारी संस्कृति का [illegible] है।

"ये तो नौकर की रोटियाँ है। ये रोटियाँ तो नौकर के लिए बनाई हैं।" उस गृहणी ने उत्तर दिया।

मैंने कहा "नौकर की रोटी है तो क्या, आखिर आदमी की ही तो है! इसलिए हमारे भी काम आ सकती हैं। पर, इन नौकर की रोटियों में कमी होती है और उनके भोजन मे कुछ कमी आ रही है, तब तो हम नहीं लेंगे। लेकिन, चूँकि ये रोटियाँ जरा अच्छे ढग से नहीं बनी है और वे कोरे गेहूँ की न बनकर उसमें चना या जौ ज्यादा है, जिसे सेठजी नहीं खा सकते हैं या सेठानियाँ नहीं खा सकती हैं, इसलिए नौकर के लिए अलग बन गई है, तो इस हालत मे तो, हम अधिकारी हो सकते हैं इसमें से लेने के।

साहब, रोटी दी तो जरूर उस बहन ने, पर उसके मन में बडा सकोच हो रहा था और एक प्रकार की ग्लानि जरूर हो रही थी उसके अन्दर की दुनिया मे।

पीछे जब वह बाई मिली, तो हमने पूछा "तुम दो तरह की रोटियाँ बनाती हो, यह किस तरह ठीक रहता है? यह कैसा विचार चलता है जीवन मे?"

मैं समझता हूँ कि जो चौका अलग-अलग भेद बनाकर चलता है, जिस तवे पर से सेठजी के लिए अलग रोटियाँ बन कर आ रही हैं और बूढे माँ-बाप के लिए अलग से आ रही हैं, पति के लिए अलग रोटियाँ सिकती हैं, और नौकरों के लिए अलग रोटियाँ सिकती हैं, तो मानवता की दृष्टि से वह शुद्ध चौका नहीं कहला सकता।

धर्म और मजहब से प्रकाश मिल जाएगा, जीवन का प्रकाश भी मिल जाएगा और ईश्वर का प्रकाश भी मिल जाएगा। और, अगर आप अपने-आप मे ही ठीक नही है, तो फिर प्रकाश कहाँ से मिलेगा ?

अगर दर्पण मैला है, अन्धा है, उस पर कालिख पुती है, तो उसमे अगर आप अपना चेहरा देखना चाहे, तो आपका प्रतिबिम्ब उस दर्पण पर पडेगा नही। कितनी ही देर आप खडे रहे, पर उस दर्पण मे कोई परिवर्तन आपके उसके सामने खडे रहने से नही आएगा। लेकिन, अगर दर्पण निर्मल है, साफ है, तो जब खडे होते हैं आप, तो उसी समय, उसी हालत मे—जैसी हालत में आप उसके सामने खडे होगे—आपका प्रतिबिम्ब झटपट उसमे पडने लगेगा। उसमे हफ्ते, दो हफ्ते—घन्टे, दो घन्टे नही लगेगे। सामने खड़े हुए नहीं कि आपका प्रतिबिम्ब उसमें पडा नही।

इस दृष्टिकोण को अगर आप ध्यान मे रख रहे है, तो मुझे कहना यह है कि यह सारा ससार जो-कुछ भी आपके सामने है, वह आपके सकल्पो का है, वह आपके अपने विचारो का है। इस ससार के बुरेपन और भलेपन का सारा उत्तर-दायित्व आप पर है। अगर आपका अपना दृष्टिकोण ठीक है, तो ससार मे स्वर्ग आ जाता है और अगर आपका दृष्टिकोण ठीक नही है, तो ससार नरक बन जाता है। अगर आप अपने सकल्पो में सही हैं, तो परिवार समाज या राष्ट्र मे जहाँ कहीं भी आप रहेगे, वहाँ प्रेम की बासुरियाँ बजेगी और उस मधुर सगीत मे आप भी अपने जीवन का आनन्द ले सकेंगे, और

परिवार, समाज तथा राष्ट्र और यहाँ तक कि सारा संसार उससे आनन्द ले सकेगा।

पर, अगर आपके शुभ संकल्प नहीं है, तो उस स्थिति में चाहे आप संसार में कितने भी बड़े क्यों न बन जाएं, लेकिन आपको उससे से आनन्द नहीं मिलेगा, रस नहीं मिलेगा। धन चाहे करोड़ों का कमा ले, पर तब भी आनन्द नहीं मिलेगा। परिवार कितना भी बड़ा क्यों न हो, पर आनन्द नहीं होगा।

कहने का अर्थ यह है कि अगर आप शुभ संकल्पों में बहते जा रहे हैं, तो उस स्थिति में आपका जीवन चाहे छोटा भी क्यों न हो, आप हर क्षेत्र में जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। अगर ठीक रूप से जीवन को परखने का उत्तरदायित्व आप में नहीं आया है, इस छोटे-से घेरे को तोड़कर अपने आपको संसारभर में लीन करने का आपके अन्दर संकल्प नहीं उठा है और शुभ संकल्पों की गंगा आप के अन्तर में नहीं बह रही है, तो जीवन का आनन्द आपको उपलब्ध नहीं हो सकेगा। ऐसा व्यक्ति परिवार में, समाज में या राष्ट्र में कहीं भी क्यों न चला जाए जीवन में वह कोई सफलता नहीं प्राप्त कर सकेगा। जैसा संसार वह अपना बना लेता है, तो वैसा ही संसार उसके चारों ओर रहता है। कहा भी है—

कहा तू अपने-आपको परख ले कि तू कैसा है ? ससार कैसा है, उसका उत्तरदायित्व केवल तेरे ऊपर है। अगर तू ठीक है, तो ससार ठीक है और अगर तू ठीक नही है, तो ससार भी तेरे लिए ठीक नही है। कृष्ण, दुर्योधन और युधिष्ठिर आदि महापुरुषो के चरित्र साक्षी के रूप मे हमारे सामने हैं।

एक पुरानी कहानी भारत के इतिहास मे चक्कर काटती चली आ रही है। श्रीकृष्ण के दरबार मे, उस विराट् कर्मयोगी महापुरुष के दरबार मे एक ओर जहाँ उस समय के ससार की राजनीति के भाग्य के फैसले होते थे, भारत की विशाल और दूर-दूर के कोने तक फैली हुई सीमाओ तक शासन किस तरह से किया जाए, इसके लिए फैसले होते थे, वहाँ दूसरी ओर दर्शन, साहित्य, धर्म और परमात्मा की खोज करने के फैसले भी होते थे। और, दार्शनिक, आध्यात्मिक, धार्मिक और सास्कृतिक चर्चाएं भी हुआ करती थी।

इस रूप मे जब हम भारत की उस पुरानी महान सस्कृति पर नजर डालते हैं, तो हमे मालूम पडता है कि वह दरबार मानो एक छोटा-सा घर था जीवन के चिन्तन का। दिन-रात इधर-उधर की, ससार की ससोपज मे ही वे नही पडे रहते थे। वह उस छोटे-से घेरे के अन्दर ही बन्द होकर नही पडे रहते थे। ससार मे जहाँ तक उनका उत्तरदायित्व था, वहाँ तक वे अर्थ का प्रश्न भी हल करते थे, काम का प्रश्न भी हल करते थे। वहाँ धर्म, दर्शन आदि पर भी चर्चाएँ होती थी। आत्मा और परमात्मा की ऊँची भूमिकाओ पर भी चर्चाएँ होती थीं।

इन पुराने महापुरुषो को जब हम देखते हैं, तो वहाँ भी एक विशाल प्रवाह बहता रहा है चिन्तन और मनन का। भारतवर्ष के इन महान सत्पुरुषो, सन्नारियो और उच्च विचारको को, उनके इतिहास को हम जब देखना शुरू करते है, तो मालूम पडता है कि चिन्तन और मनन के कितने महान् शिखर पर वे पहुँचे हुए थे! एक माता अपने पुत्र को गोद मे लेकर लोरिया देती है और वहा पर भी वह एक विराट् सगीत—जो कि भारतीय आत्मा का सगीत है—उसके मुँह मे सतत गूँजता रहता है। उस समय भी वह एक महान माता मदालसा यही गाती रहती है—

"शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि,
ससारमायापरिवर्जितोऽसि"

पुत्र, तू मात्र एक मिट्टी का पिंड नहीं है। तेरा यह केवल मासल शरीर ही सब-कुछ नहीं है। तू इस ससार की अन्धेरी गलियो मे भटकने के लिए ही इस ससार मे नहीं आया है। तू एक महान प्रकाश है। तेरी आत्मा महान है। तू शुद्ध है, निर्मल है, पुनीत है। तू सिद्ध है। तू बुद्ध है। तू निरन्जन है! देखना, तू इतना सब होकर भी इस ससार की वासनाओ मे, इस ससार की विषय-कामना के चक्कर मे मत पडना। इस ससार की राग-द्वेष और विषय-वासनाओ आदि पापो की अन्धेरी गलियो मे न भटक जाना। तुझे तो इस ससार के ऐसे-ऐसे अनेको तूफानो को पार करना है, इन पर विजय प्राप्त करनी है! तुझे सिद्ध, बुद्ध, निरजन और निराकार रहते हुए परमात्म-रूप बनना है। तुझे अपना आध्यात्मिक साम्राज्य

स्थापित करना है। तुझे इन तूफानों में भटक कर अपना रास्ता नहीं भूल जाना है।

इस तरह से अगर हम अपना इतिहास उठाकर देखते हैं, तो पता लगता है कि भारत का एक-एक घर, इस देश के एक-एक घर का आंगन महान दर्शन और आत्म-ज्ञान के प्रकाश में चमकता रहा है। भारत के जीवन का दर्शन कैसा है ? मनुष्य का मूल्य क्या है ? इस संसार में और हमारे में क्या सम्बन्ध है ? और, आत्मा और परमात्मा में क्या अन्तर है ? इस तरह की चर्चाओं का यह देश घर था। यहाँ के राज-दरबारों में इन बातों की भी चर्चा हुआ करती थी। कोरी राजनीति के ही अखाड़े नहीं रहे हैं हमारे वे राज-दरबार।

तो, महान योगी कृष्ण के उस समय के राज-दरबार में एक प्रश्न उठा कि संसार में भले आदमियों की संख्या अधिक है या बुरे आदमियों की ? जब यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ, तो धर्मात्मा युधिष्ठिर ने कहा कि "संसार में जो भी मनुष्य हैं सब भले-ही-भले हैं।" इसके विपरीत, दुर्योधन ने कहा कि "संसार में जो भी मनुष्य हैं, वे सब-के-सब बुरे ही-बुरे हैं।" बाकी लोग कुछ इधर होकर कहने लगे और कुछ दूसरे की बात की पुष्टि करने लगे। यह संघर्ष काफी समय चलता रहा। आखिर में कृष्ण ने कहा कि इसका फैसला फिर कभी करेंगे।

कुछ दिनों के बाद श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों के हाथ में दो पुस्तकें दीं और कहा जाओ नगर में और देखो, जो भले हैं, वे कौन हैं और जो बुरे हैं, वे कौन हैं ?

जो भले हों, उनके नम्बर इसमें नोट करते जाओ और इसी तरह से जो बुरे हों, उनके भी नम्बर नोट करते जाओ। दुर्योधन से कहा गया पुस्तक देकर कि जाओ, तुम नगर में देखो और तुम्हें जो भले आदमी मिलें उनके नाम और नम्बर इसमें नोट करके लाओ। युधिष्ठिर से कहा गया कि इस संसार में जो बुरे हैं वे कौन आदमी हैं क्यों हैं और किस रूप में हैं? उनके नाम इस पुस्तक में नोट करके लाओ।

समय दे दिया गया उन्हें इस काम के लिए महीने दो महीने का।

इसके बाद जब समय गुजरा और दरबार फिर लगा, तो उनसे वे पुस्तकें मांगी गईं। उन्होंने वे पुस्तकें ज्यों-की-त्यों जिस हालत में ले गये थे वैसी ही वापिस लौटा दीं। जब किताबें ज्यों-की-त्यों लौटा दी गईं, तो पन्ने देखने शुरू किये गये उन पुस्तकों के। दुर्योधन की पुस्तक देखी गई तो उसमें भले आदमी का एक नाम नहीं मिला। सारी पुस्तक खाली-की-खाली पड़ी थी। इसी प्रकार से युधिष्ठिर की पुस्तक देखी, तो उसमें भी बुरे आदमी का एक नाम नहीं था।

श्रीकृष्ण ने कहा दुर्योधन से कि 'भाई, तुम महीने-भर घूमते रहे, लेकिन इस सारी दुनिया में एक भी भले आदमी का नाम तुम लिखकर नहीं लाए, क्या बात है? क्या कोई भला आदमी तुम्हें मिला ही नहीं?'

दुर्योधन ने कहा महाराज, मैं घर में तो नहीं बैठा रहा हूँ। भले आदमी की तलाश करता रहा; पर मुझे तो कोई भला आदमी मिला ही नहीं। संसार तो मक्कार, खुदगर्ज और

स्वार्थी आदमियों से भरा पड़ा है। एक-दूसरे की घात में लगा है। सब भेड़िया-ही-भेड़िया भरे पड़े है यहाँ तो! कोई भी तो भला नही मिला, जिसका नाम इस पुस्तक में लिख लेता!

श्रीकृष्ण ने यह देखकर युधिष्ठिर से कहा तुम्हारी पुस्तक कोरी क्यों है? जब कि संसार में कोई भला नहीं है, तो तुम्हारी पुस्तक तो भर जानी चाहिए थी! क्या बात है यह?

युधिष्ठिर बोले भगवन! मै भी बैठा नहीं रहा हूँ। मै भी घूमता रहा, सारे नगर का चक्कर काटता रहा। पर, पूरा-पूरा प्रयत्न करने के बाद भी, एक भी ऐसा बुरा आदमी मुझे नहीं मिला, जिसका कि नाम इसके अन्दर लिखने का प्रयत्न करता। अब मै क्या करता? मुझे कोई बुरा आदमी मिलता तब तो लिखता?

श्रीकृष्ण ने दरबार के उन लोगों के सामने अपना निर्णय दिया, जो कि उस चर्चा के अन्दर उस दिन भी हाजिर थे और आज भी हाजिर थे। और, आज निर्णय सुनने के लिए और भी हजारों आदमी इकट्ठे हो गए थे।

यह प्रश्न चला था उस दिन कि संसार में भलापन है कि बुरापन है? संसार नरक है या स्वर्ग है? यह दुनिया सज्जनों पर खड़ी है कि दुर्जनों पर खड़ी है?

उन्होंने कहा संसार तो संसार है। वह जैसा है, वैसा ही है। यह तो देखने वाले की अपनी दृष्टि है। विचार करने वाले का अपना दृष्टिकोण है! दुर्योधन जाता है और अपने-आप में एक बुराई की बुद्धि लेकर चलता है। जहाँ भी कहीं जाता है, तो वहाँ इस संसार में बुराई-ही-बुराई देखता

चला जाता है। संसार को बुरी निगाह से देखता चला जाता है। दुनिया में अच्छाइयाँ भी होंगी, पर वह अच्छाइयों की तरफ नहीं जाता। भलाइयों की तरफ निगाह नहीं जाती उसकी। इसलिए उस पर भले आदमियों के नाम नोट करने का जो उत्तरदायित्व सौंपा था, वह ठीक रूप से निभा नहीं सका, हजरत कोरे के कोरे आए।

और, युधिष्ठिर अपने-आप में भले हैं, उनका दृष्टिकोण सही है। उनका दृष्टिकोण सज्जनता का दृष्टिकोण है। उसे लेकर जब वे इधर-उधर जाते हैं तो उन्हें सभी अच्छे मालूम होते हैं, हालांकि बुराइयाँ भी संसार में हैं। संसार का हर व्यक्ति गुण-दोषमय है। अच्छाइयाँ भी होती हैं, तो बुराइयाँ भी होती हैं हरेक मनुष्य में। पर, उनकी निगाह केवल अच्छाई की तरफ ही गई और इस रूप में उनके ऊपर बुरे आदमियों के नाम लिख कर ले आने का उत्तरदायित्व डाला गया, तो वे एक भी नाम लिखकर नहीं ला सके। उनको कोई बुरा मिला ही नहीं, क्योंकि जिधर वे गए, उधर अपना ही प्रतिबिम्ब देखते चले गए।

इसका मतलब यह है कि संसार न एकान्त रूप से अच्छा ही है और न एकान्त रूप से बुरा ही है। न एकान्त से भला ही है, और न एकान्त से बुरा ही है। न एकान्त नरक है, न एकान्त स्वर्ग है। यह तो गुण-दोषों का संसार बना है। यही चक्र संसार में अनन्त-अनन्त काल से चला आ रहा है। इसलिए संसार के स्वरूप को बदलने की अपेक्षा अपना दृष्टिकोण बदलने की जरूरत है। तुम्हारा दृष्टिकोण सही है, तो आनन्द और प्रेम की गंगा अपने चारों ओर आपको मिलेगी। सुख और

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर मालूम होगा कि मनुष्य मनन के ऊपर खड़ा है। मनुष्य को अधिकार मिला है कि वह मनन करे, चिन्तन करे और अपनी बुराइयों को देखे, देखकर उन्हें मालूम करे और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करे। अपने परिवार, समाज और राष्ट्र में स्नेह के अमृत का सञ्चार करे। आनन्द पैदा करे। जिधर भी निकले, प्रेम का दीपक जलाता हुआ निकले संसार में।

संसार में जिन लोगों ने अपने-आप में अपनी आत्मा का दर्शन किया, उन्होंने परिवार में भी अपने आपका दर्शन किया है, समाज में भी अपने-आपका दर्शन किया है और इससे आगे बढ़कर राष्ट्र में भी अपने-आपका दर्शन किया है। उन्हें ईश्वर का दर्शन करने के लिए अलग-अलग साधनाओं की जरूरत नहीं पड़ी। केवल दृष्टिकोण बदला, तो आत्मा से परमात्मा की मंजिल भी तय हो गई। इसलिए कहा है कि "दिशा बदली, तो दशा बदली। जीवन में दिशा यानी दृष्टिकोण बदलने की ही जरूरत है।

यह छोटी-सी बात मैं आपसे कह गया हूँ। यह मानव-जीवन का एक सुन्दर तत्त्व हमें मिला है। इस संसार में हम अनन्त-अनन्त काल से, अनन्त-अनन्त योनियों में भटकते रहे हैं और चलते चले आ रहे हैं। और, चलते-चलते आज इन्सान का जन्म प्राप्त कर लिया है। इस रूप में, एक शुद्ध चैतन्य और विराट् तत्त्व हमें मिला है। इसमें से हम सुगन्ध तलाश करें, प्रेम की महक प्राप्त करें। जब तक जिएँ, आनन्द से जिएँ, जब तक जिएँ, दूसरों को भी आनन्द में

शान्ति के विशाल साम्राज्य के आप अधिपति होंगे। अगर तुम्हारा दृष्टिकोण ठीक नहीं है, तो हर जगह परिवार में, समाज में, देश में या जहाँ कहीं भी आप होंगे, केवल उनकी बुराइयों को ही देखने में रहेंगे।

दो मित्र जाते हैं बाग में। सामने गुलाब का फूल खिला हुआ था। एक सज्जन कहता है अहा! कितना सुन्दर यह गुलाब का फूल खिला है! दूसरा साथी कहता है कितने नुकीले कांटे हैं इसमें!

तो, मैं कहता हूँ, गुलाब तो अपने-आप में ठीक है! खिला हुआ है! सुन्दर है! सुगन्धित है और साथ ही कांटे भी जरूर हैं! यह तो अपना-अपना दृष्टिकोण है। किसी की निगाह कांटों पर जा रही है और किसी की निगाह फूल पर जा रही है। सारा संसार कांटों और फूलों से भरा हुआ है।

इसका अर्थ यह है कि हमारी संकल्प-शक्ति अगर शुभ है, तो संसार हमारे लिए शुभ है और हमारी संकल्प-शक्ति अगर अशुभ है, तो संसार हमारे लिए अशुभ है। हमारी संकल्प-शक्ति अगर ठीक है, तो हमारे परिवार, समाज और राष्ट्र सभी में हम स्वर्ग का निर्माण कर सकते हैं और इस सूखे रेगिस्तान को भी सींचकर इसमें सुन्दर लहलहाता बाग खड़ा कर सकते हैं। और, अगर हमारा दृष्टिकोण गलत है, तो हम चाहे कितने ही ऐश्वर्यशाली यहाँ क्यों न हों, वैभव कितना भी हमारे पास क्यों न हो, समाज में इधर-उधर सत्ता भी मिली हो, पर उस हालत में कोई भी अच्छाई हमारे अन्दर नहीं आ सकेगी।

जीने का अवसर दे। जब तक हमारे जीवन में, हमारे अन्दर इस विराट् तत्त्व की, स्वय जीने की और दूसरों को जीने देने की बुद्धि जागृत है, तब तक हमारी साधना, हमारी आत्म-तत्त्व की प्राप्ति, जो कुछ भी है, वह भी जिन्दा है। उस हालत में अगर हम जीवित अवस्था में है, तब भी जिन्दा हैं और जब मर जाएंगे, तब भी इस आत्म-तत्त्व के रूप में जिन्दा रहेंगे।

इसके विपरीत, अगर इस जीवन में यह विराट् तत्त्व नहीं है और अन्दर में यह विराट् तत्त्व मर चुका है, तो हम चाहे जीवित हो, फिर भी मर जाते हैं। और हमारी साधना भी—फिर चाहे वह कितनी ही बडी क्यो न हो—मर जाती है। और, जिस ईश्वर की हम साधना करते हैं, वह ईश्वर भी मर जाता है।

इसलिए जीवित ईश्वर की उपासना करो! जीवित आत्म-तत्त्व की उपासना करो! जीवन में आनन्द, प्रेम और मधुर भावनाओ को भरो! कडवाहट और द्वन्दो को निकाल फेंको! जो इस जीवन को आनन्दमय बनाएँगे, उनका यहाँ पर भी कल्याण है और आगे भी कल्याण होगा!

# मन की शक्ति

आपके सामने एक विचार चल रहा है कि मन क्या है? वह स्थूल है या सूक्ष्म है? उसका स्थान कहाँ है? और वह कहाँ खड़ा है?

बात यह है कि एक तरफ तो हमारा यह स्थूल शरीर है, शरीर पर दीखने वाली इन्द्रियाँ है और दूसरी ओर है हमारी आत्मा। आत्मा, शरीर तथा इन्द्रियों के बीच में मन [illegible] है। इस प्रकार मन को हम मन्त्री कहते हैं आत्मा का। और, इस मन का लक्षण एक आचार्य ने यह किया है—

"सकल्पविकल्पात्मक मन"

—मन, सकल्प विकल्प रूप है।

इस स्थिति मे, जहाँ हमारे शास्त्रकारो ने आत्मा के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ कहा है, वहाँ शरीर और इद्रियो के सम्बन्ध मे भी बहुत-कुछ कहा है। हमारे आचार-विचार के सम्बन्ध मे भी काफी गवेषणाएँ की हैं। नरक और स्वर्ग का जीवन कहाँ है, किस रूप मे है, यह भी बताया है। परन्तु, इन सब के ऊपर आकर आखिर मे मन को लाकर खडा कर दिया है उन्होने।

उन्होने कहा है कि तुम्हारी आत्मा ठीक है या बुरी है, कैसी उसका प्रतिविम्ब मन है तुम्हारा। एक व्यक्ति मन मे ठीक नही है, चिन्तन मे ठीक नही है और सकल्प एव विकल्प उसके जीवन मे चलते रहते है, तो उस स्थिति मे अगर वह यह कहे कि मेरी आत्मा तो ठीक है, उसमे तो कोई दोष नही है, वह तो निर्मल और पवित्र है, तो कहना पडेगा कि आत्मा मूल मे पवित्र है जरूर, पर मन की छाया भी तो बडी मूल्यवान् है और जब तक हम उसका ठीक-ठीक रूप में विश्लेषण नही कर लेते, तब तक आत्मा की पवित्रता का मूल्य ठीक तरह से नही मिलता।

इसलिए हमें एक बार यह विचार कर लेना चाहिए कि बाहर में जो भी हम साधना करते हैं, गृहस्थ-जीवन या साधु-जीवन में जो धर्म-कर्म करते है, उसका मूल्य मन के साथ मेल खाने पर ही होता है। बाहर मे हमने ठीक रूप मे अपनी साख जमा ली हो और हमारा प्रदर्शन बहुत अच्छा हो, परन्तु अन्दर मे अगर दिवाला है, अगर मन पवित्र नही है, अन्दर के सकल्प-विकल्प शुभ नही रहे हैं, तो उस स्थिति मे वह बाहर की साख ज्यादा दिन चलती नही है। वह बाहर की साख उल्टी हमारी

आत्मा को कलुषित करती रहती है। जीवन मे हम अन्दर कुछ नही कर रहे है और केवल बाहर के आचार-विचार को देख कर प्रशसा के पुल बाँधते जाते है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने आप मे व्यर्थ के विकार पैदा करते चले जा रहे है। इसलिए साधक के लिए यह जरूरी है कि उसका अन्तरग और बहिरग समान भूमिका पर हो। सच्चा साधक वही है, जिसका अन्तरग और बहिरग दोनो समान भूमिका पर चलते है।

ऐसा न हो कि अन्दर मे जीवन का एक पहिया बहुत पीछे पडा रह जाए और बाहर मे जीवन की गाडी का दूसरा पहिया बहुत दूर तक चला जाए। अगर ऐसी स्थिति हो जाएगी, तो गाडी ठीक-ठीक तरह से काम नहीं कर सकेगी। दोनो को अपने-अपने पद पर समान भाव से हरकत करते रहना चाहिए।

इस विचार मे मै कहता था कि कोई भी मनुष्य अपने जीवन के क्षेत्र मे जब खडा होता है तो सकल्प-विकल्प तो आएंगे ही। ऐसा तो नहीं हो सकता कि मन को सूना बना दिया जाए। मार दिया जाए। समाप्त कर दिया जाए। वह अपना काम करना बन्द कर दे। वह काम तो करेगा। अब सवाल यह है कि आप उस हरकत का क्या उपयोग करते है? और उसकी हरकत को सही रूप मे या गलत रूप मे किधर ले जाना चाहते है?

और विचार करना है, तो वह अपना काम करना बन्द कैसे करेगा ?

तो, उसे काम तो करने देना है। लेकिन, यह आपका काम है कि उसका उपयोग आप ठीक किस ढंग से करना चाहते है या नही ? अगर आप अपने-आप मे एक सुन्दर विचारो का स्वाध्याय और चिन्तन-मनन करते हैं। सुन्दर प्रवचन सुनते हैं, और प्रभु के साथ अपने जीवन का ताल्लुक जोडते हैं, तो उस समय जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रेरणा ले। वह जो महत्त्वपूर्ण प्रेरणा है, उसका असर आप अपने मन पर डालें। और, निरन्तर सावधान रहे कि वह मन अपने-आप मे ठीक-ठीक ढग से चलता है, या नही ? अगर वह ठीक-ठीक चलता है, तो मत झगडिए उससे। जरा इधर-उधर मन भटकना शुरू कर दे, तो उसके सामने एक और अच्छा महत्त्वपूर्ण काम अर्पण कर दीजिए, ताकि वह उसे छोडकर उस अच्छे काम मे लग जाए।

इस प्रकार जब गलत सकल्प मन मे आएँ, तो उन्हे शुभ सकल्पो के वातावरण की भूमिका मे बदल देना चाहिए। जब कोई सभा होती है, तो उस सभा के अन्दर बहुत से सदस्य खड़े हो जाते हैं बोलने के लिए। और, आपस मे किसी एक विवाद को लेकर कडवाहट बढनी शुरू हो जाती है। ऐसा मालूम होने लगता है कि विचारो की भूमिका के अन्दर कडवाहट पैदा हो गई है और गलत विचारों की भूमिका मे वह वातावरण जा रहा है। ऐसे समय पर जो सभा का अध्यक्ष होता है, वह अगर अपने-आप मे ठीक रूप मे सभापतित्व करने की क्षमता और योग्यता रखता है, अपने-आप मे स्वतन्त्र

विचारों का होता है, तो वह बीच में ही एक-दूसरी ऐसी बात छेड़ देता है कि जिससे विचारों की दिशा ही बदल जाती है। इस प्रकार वह विग्रह की भूमिका बदल कर किसी दूसरे अच्छे विषय की भूमिका वाले वातावरण में चली जाती है। और, वह गरम वातावरण एकदम शान्त हो जाता है।

इस रूप से मैंने कहा कि मन का काम क्या है? संकल्प-विकल्प करना। उसे संकल्प तो करना जरूर है। आप उसे बन्द नहीं कर सकते हैं। पर, संकल्प जब दूषित होने लगे, जब कि संकल्प अशुभ होने लगे, तो आपकी जो आत्मा है, वह अध्यक्ष है इस जीवन का। उस समय वह ठीक रूप से वातावरण बदल दे और उसको बदलकर उसकी जगह एक महत्त्वपूर्ण भावना लाकर खड़ी कर दे, ताकि वह मन अपने-आप ही उन अशुभ और दूषित संकल्पों को छोड़ दे और एक महत्त्वपूर्ण संकल्प में चला जाए। उस समय वह ठीक ढंग से अपना काम करना शुरू कर दे। जैसे बच्चे का मन होता है ऐसे ही हमारे मन की भी स्थिति है।

घर में कोई नटखट बच्चा होता है, तो वह बड़ा ऊधम मचाता है। किसी भी चीज को सही सलामत नहीं रहने देता। इधर तोड़ा, उधर फोड़ा। इधर गड़बड़ की, उधर गड़बड़ की। इस तरह से घर-भर में एक हल्ला शुरू हो जाता है। मां एक तरफ से पकड़ती है और कहती है, नालायक 'क्या कर रहा है? हमें जीने भी देगा या नहीं? उधर पिता चिल्ला रहा है कि क्या कर रहे? इतनी अच्छी चीज को तोड़कर क्यों नष्ट कर रहे हो?

उधर भाई, बहन शिकायत का पुलिन्दा लेकर खडे रहते हैं कि इसने हमारी किताब फाड़ डाली। हमारी पढ़ने की सामग्री खराब कर दी। यह कर दिया, वह कर दिया। ऐसा मालूम होता है कि घर मे किसी रावण ने जन्म ले लिया है ?

मैं समझता हूँ कि जो बच्चा अपने-आप में इतनी हरकत करता है और इतनी स्फूर्ति जिसके अन्दर चल रही है, वह तो उसके विकास के लिए आवश्यक है। अगर किसी भी बच्चे को आप समय से पहले बूढा कर दें और केवल मिट्टी का माधो बनाकर उसको रखना चाहे कि जहाँ बिठा दे, वही बैठा रहे, उठने का नाम ही न ले और कही खडा हो गया, तो खडा ही रहे। इधर-उधर करने का, फिरने का काम ही न रहे। कोई कुछ कह दे, तो सुन ले, बोले कुछ नही। इस प्रकार सूना-सूना रहे, तो वह स्फूर्ति—जिसके द्वारा उसे अपने शरीर का भी विकास करना है, अपने हृदय का भी विकास करना है और इस जीवन मे एक विशाल शक्ति का स्रोत जो जमा हुआ है, उसे भी जीवन में उतारना है—अगर उसमे नही रहेगी, तो यह सब कैसे कर सकेगा वह ?

कुछ लोग जो यह समझते हैं कि बालक अगर नटखट है, तो वह नालायक है, यह उनकी नासमझी है। मेरे विचार से, जो बच्चा जितना स्फूर्तिमान है, जो ज्यादा हरकत के अन्दर रहता है, चचल रहता है, वह उतना ही अच्छा है। यह अब आपका काम है कि उसकी चचलता का उपयोग कही अच्छी जगह पर करें। यह आपकी बुद्धि का काम है कि उसकी इस शक्ति का आप ठीक ढंग-से उपयोग करें और ठीक जगह पर

उससे काम ले। आप उसको तो उपालम्भ देते हैं कि यह कर रहा है, वह कर रहा है। शोर कर रहा है, हल्ला मचा रहा है। तोड रहा है, फोड रहा है। यह न करे, वह न करे। पर, आप यह तो बताएँ कि, आखिर क्या करे वह ? किस काम में लगे वह ? ऐसा तो नहीं हो सकता कि उसे अफीम की गोली दे दी जाए और वह पडा रहे। फिर जागे और फिर अफीम की गोली दे दी जाए, जिससे कि हरकत न करे। यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है कि जिसको न समझकर हम उस बालक के जीवन के साथ खिलवाड करते हैं और ठीक रूप मे उसके जीवन का विकास नहीं होने देते हैं।

हमारे एक प्रेमी हैं, महात्मा भगवानदीन जी। उन्होंने हमे बताया कि "मैं एक मित्र के यहाँ गया और जब गया, तो बैठा और बातें चल पडी। बातें कर ही रहे थे कि इतने मे क्या हुआ ? उनका एक लडका था। बडा स्फूर्तिवान और बडा नटखट ! उसे एक जगह एक कुल्हाडी मिल गई। उसे लेकर वह आया कमरे मे। थोडी देर वहाँ घूमता रहा इधर-उधर। बाप ने जब देखी कुल्हाडी उसके हाथ में, तो हमारे साथ बात करने का जोश तो समाप्त हो गया उनका। वह सज्जन सामने तो जरूर बैठे रहे, लेकिन उनका मन उस बच्चे के पीछे दौड पडा कि यह इस कुल्हाडी का क्या करेगा ?

"इतने मे कमरे मे एक मेज पडी थी। उस पर उस बच्चे की निगाह पडी और उसी पर कुल्हाडी चलाना शुरू कर दिया उसने। बाप चिल्लाया यह देखकर और भागा। दो तमाचे लगाए और कुल्हाडी उसके हाथ से छीन ली। लडके ने हाथ-पैर पीटना शुरू किया। हो-हल्ला मचाना शुरू कर दिया।

"उसके पिता ने मेरे से कहा कि महात्माजी, और तो जो-कुछ है, सो है और यह आपकी आत्मा और परमात्मा की चर्चा भी ठीक होगी; लेकिन हमारे तो जब से इस लडके ने होश संभाला है, तब से इसने हमारी नाक मे दम कर रक्खा है। अब तो इसके मारे घर मे रहना मुश्किल हो गया है। देखा आपने अभी एक कुल्हाड़ी कहीं से उसके हाथ पड गई, तो उससे मेज को ही काटने लगा!

"मैंने कहा कि भाई! बात तो ठीक कहते हो, लेकिन मुझे तो यह कहना है कि तुम बडे ही भाग्यशाली हो, जो कि तुम्हारा लड़का इतना स्फूर्तिमान है। इसके अन्दर इतनी चेष्टा है कि वह कुछ काम करना चाहता है। लेकिन, तुम तो उसको कुछ काम बताते नही। तुम तो उसके सामने कोई काम की योजना रखते नही और इसलिए उसको जैसा लगता है और जिस काम मे उसका मन लगता है, वैसा ही वह काम कर डालता है। वह चुप बैठना नही चाहता, कुछ काम करना चाहता है।

"इस सुन्दर मेज की तुम्हारी आँखों मे कोई कीमत होगी, तो होगी; क्योंकि तुमने इसका पैसा दिया है। तुमने इसके लिए अपनी जेब खाली की है और तब इसको लाए हो। तुमने इसे अपने अहकार की पूजा के रूप मे रख छोड़ा है कि कोई महमान आए या कोई आदमी आए और वह इसे देखकर कहे कि क्या सुन्दर और बहुमूल्य वस्तु है! तुम्हारे थोडे-से अहकार की पूजा हो जाए, यह आपका लालच हो सकता है। पर, इस बच्चे के सामने तो ऐसा कोई मूल्य नही है इसका! अपने-

आप से यह इस सृष्टि का ऐसा सीधा-सरल प्राणी है, जिसकी निगाह में हीरा और काच दोनो बराबर हैं। इसी तरह तुम्हारी मेज और साधारण लकड़ी भी इसके लिए बराबर है। यह तो समदृष्टि आत्मा है। इसको ताड़न करके तुम सुधारना चाहते हो, तो यह नहीं सुधर सकेगा ऐसे।

"उन्होंने कहा तो महाराज, यह कैसे सुधरेगा, यह तो बताओ ? मैंने इस बच्चे को बुलाया और पुचकार कर कहा वाह भई, तुम तो बहुत होशियार हो ! तुम्हारी कुल्हाड़ी भी बड़ी अच्छी है। देखें तुम्हारी कुल्हाड़ी ! दिखलाओ तो सही जरा !

"कुल्हाड़ी लेकर देखी और वापिस उसे लौटाते हुए मैंने कहा लो यह तुम्हारी कुल्हाड़ी। कुल्हाड़ी तो जरूर तुम्हारी अच्छी है, मजबूत है ! लेकिन, तुम कितने मजबूत हो, यह भी तुमने कभी जाचा है या नहीं ? यह मेज तो एक मामूली-सी चीज है ! इसलिए इस पर तो कूदते-फिरते हो, इसको छोड़कर और अपनी बहादुरी दिखाओ तो जाने ?

"घर मे चूल्हा जलाने के लिए लकड़ियाँ आई पड़ी थीं। उनको लक्ष्य करके मैंने कहा वह देखो, वे जो लकड़ियाँ पड़ी हैं, तुम्हारी ताकत तो हम तब देखे, जब इन लकड़ियों को तुम इस कुल्हाड़ी से काट दो ! बच्चे ने कहा इनको तो अभी काट देता हूँ।

"पिता ने शका प्रकट की कि यह कैसे काटेगा इतनी लकड़ियों को ? मैंने कहा कि देखना तो सही कैसे काटेगा ?

"अब बच्चा तो उन लकड़ियों के ढेर की तरफ मुड गया और दनादन उन्हे काटता रहा। उसको तो उसमे रस मिल रहा था। पिता का मन गड़बडाने लगा कि कहीं इसके हाथ-पैर में न लग जाए! मैंने कहा इस बात को छोड़ो तुम कि कहाँ लगेगी और कहाँ नही लगेगी? इसकी चिन्ता करने की जरूरत नही है। अब काटने दो उसको अच्छी तरह से। देखो, क्या होता है?

"इसके बाद वे अपनी और बातें करते रहे और लडका उन लड़कियो से चिपका रहा। जब बात समाप्त हो गई, तो क्या देखते हैं कि लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े ठीक जलाने लायक हो गए हैं। पिता इससे प्रभावित हुआ और कहने लगा महात्माजी, मैं तो इस विचार में था कि इनको काटने के लिए किसी मजदूर को बुलाऊँगा या उसके पैसे बचाऊँगा, तो खुद दफ्तर से जल्दी लौटूँगा और तब स्वय इनको काटूँगा! पर, वह तो इसने सब टुकड़े ठीक ठील तरह से कर दिए हैं और यह सारा काम ठीक ढग से हो गया है।

"मैंने कहा इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि बच्चों के लिए तो तोड़ना-फोड़ना जरूरी है। फिर वह कोई भी और कैसी भी चीज क्यों न हो। उसको तो कुछ-न-कुछ चाहिए तोडने-फोडने के लिए। क्योंकि, उसे कुछ काम अवश्य करना है। बिना काम वह बैठा नही रह सकता, क्योंकि उसमें स्फूर्ति है, स्वभाविक चेतना है। कुछ न-कुछ करने की और सीखने की निरन्तर जागृत इच्छा-शक्ति है उसके अन्दर।

"लेकिन, अब यह तुम्हारा काम है कि उसको अपनी इस

स्फूर्ति, कुछ-न-कुछ नया सीखने की निरन्तर जागृत इच्छा-शक्ति और ज्ञान-शक्ति को विकसित करने का, कोई साधन उसके हाथ मे दो। इस काम मे उसके मार्ग-दर्शक और शिक्षक बनो। उसको हतोत्साह न करो। उसकी चेतना-शक्ति को कुण्ठित न करो। विकसित होने का मौका दो उसे। उसके हाथ मे कुल्हाडी आ गई है, तो उस कुल्हाडी के द्वारा अगर तुम लकडी नही फडवा सकते और कोई प्रेरणा देकर उसके अहकार को जगाकर, अगर तुम कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं करा सकते, तो वह तुम्हारी मेज तोड़ेगा। कुछ इधर-उधर की गड़बड करेगा। आखिरकार, उसे कुछ-न-कुछ काम तो करना है। चुप वह बैठा नहीं रह सकता, क्योंकि वह बीमार नहीं है, स्फूर्तिमान है। इसलिए वह चुपचाप कैसे बैठ सकता है?"

यह एक छोटा-सा रूपक है। इसके द्वारा हमने बाल-मनोवृत्ति का इस रूप मे विश्लेषण किया है कि बच्चे को कुछ-न-कुछ काम देना होगा, कुछ-न-कुछ काम जरूर अर्पण करना होगा, ताकि उसके ऊपर वह अपने शरीर के बल का प्रयोग करे, अपनी बुद्धि का प्रयोग करे अपनी कल्पना-शक्ति का प्रोयग करे, और जो उसके पास कोई साधन आ गया है, तो उसका वह ठीक ठीक रूप मे प्रयोग करे। उसके हाथ मे जो चीज आ गई है उससे वह ठीक ठीक रूप से कुछ काम कर सके। अगर आप उसको कोई काम नहीं देते हैं, तो फिर वह जरूर कोई-न-कोई घर मे तोड-फोड करेगा।

यही बात हमारे इस मन के लिए भी है। हमारा मन भी बड़ा चञ्चल है। वह अन्दर मे कुछ-न-कुछ उछल-कूद मचाता है

रहता है। शान्त नही रहता है। कुछ-न-कुछ खटपट, उखाड-पछाड करता ही रहता है। हम तो उसके लिए आत्मा से यही कहेगे कि वडा भाग्यशाली राजा है कि उसे मन्त्री जो है, वह शानदार मिला है। ठीक रूप में काम करने वाला मिला है। सुनसान नही है, सोया नही है। उसके अन्दर एक वडी शक्ति काम कर रही है। अब यह वात तुम्हारी है, आत्मा-रूपी राजा की है कि वह मन-रूपी मन्त्री को अच्छा काम करने को देता है या नहीं? ठीक रूप मे अगर वह उसे कोई अच्छी चीज या अच्छा काम अर्पण कर दे, तो वह अपनी शक्ति का चमत्कार जरूर दिखाएगा।

ससार में आज जितना विकास हुआ है, इस विशाल संसार मे मानव ने जितनी आशातीत वडी-वडी तरक्कियाँ की हैं, जितने वड़े विशाल वैभव और गौरव-शील कार्य किए हैं, वे सव मन की ही देन हैं।

एक दिन मनुष्य अपने-आप मे जगल मे खडा था। उसके पास झोपडी भी नही थी अपना सिर छुपाने के लिए, सरदी-गरमी और वर्षा मे वचने के लिए। सारी ऋतुओं मे वृक्ष के नीचे ही अपना जीवन गुजार देता था वह। इस रूप मे अगर कभी वह वीमार पड़ा, तो पडा ही रहा। भूखा पडा रहा, तो भूखा ही पडा रहा। और प्यासा पडा रहा, तो प्यासा ही पडा रहा। सरदी-गरमी, भूख-प्यास इन सव का कोई विवेक नही था उसे। न उसके पास इसकी समझ थी। परिवार भी उसके पास नही था। उसकी सुख-सुविधाओं के कोई साधन भी उसके पास नहीं थे। वह एकमात्र अकेला था। नीचे एक

विशाल भूमण्डल और ऊपर अनन्त आकाश! इस रूप में यह इकेला-दुकेला जीवन गुजारता रहा हजारों वर्षों तक!

आखिर, एक दिन इसके मन में प्रेरणाएँ जागृत हुई। और अपने अभावों से लड़ना शुरू किया उसने। मन की चेतना ने एक नया मोड़ लिया और मानव ने इसके सहारे दुःख और क्लेशों से मोर्चा लेना सीखा।

हजारों वर्षों तक मनुष्य यह विचार करता रहा कि ये दुःख, ये क्लेश और ये आपत्तियाँ प्रकृति की चीजें हैं। यह सब कुदरत का खेल है! इसलिए ये तो आएँगे ही। इस दृष्टिकोण से उसने उनके सामने सिर झुकाकर अपने को उनके सामने डाल दिया। इस तरह से मनुष्य कष्टों और आपत्तियों को निरन्तर सहन करता चला आया। जैसे बलि के बकरे को सिवा मरने के, उस तेज धार वाली तलवार के नीचे गरदन झुकाने के और कोई चारा नहीं, उसी प्रकार दुःखों, क्लेशों, आपत्तियों और संकटों के सामने और उन अभावों के सामने बलि के बकरे की तरह इन्सान पड़ा सिर झुकाता रहा। उसने अपनी कोई स्फूर्ति और चेतना नहीं दिखाई।

पर, एक दिन एक महापुरुष ऐसा आया, जिसने मनुष्य को धर्म और पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाया। आज हम संसार के उसी विराट् पुरुष की स्तुति करते हैं भगवान ऋषभदेव के रूप में। उसने आवाज लगाई कि "यह जो अभाव है, चारों ओर से दुःख और क्लेश घिर-घिर कर तुम्हारे पास चले आ रहे हैं उनसे तुम डटकर लड़ो! तुम जो प्रकृति के भरोसे सब को सहन करने का विचार करते हो, और समझते हो कि प्रकृति देगी, तो क्या

लेंगे और वह नही देगी, तो भूखे पड़े रहेंगे, इससे अब काम नहीं चलेगा। यह काम अब तुम्हारा ठीक नहीं बैठेगा। इसीलिए तुम्हे अपना मन जगाना पड़ेगा। अपने मन से अभावो से लडने की शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करनी होगी। तुम इस जीवन में अब अकेले रह कर ससार की यात्रा नही कर सकते। अत अपने सगीसाथियो का चुनाव करना पड़ेगा। इस रूप में परिवार इस मानव के सामने आकर खडा हुआ और परिवार से आगे बढ़कर समाज उसके सामने आया। कई परिवारो को मिला कर एक समाज, और कई समाज मिलाकर एक राष्ट्र मनुष्य के सामने खडा हो गया। धीरे-धीरे कई राष्ट्र मिलकर एक विश्व का रूप मनुष्य के सामने आया।

इस प्रकार मन ने अपने अभावो से, अपने दु खो और क्लेशो से, निरन्तर लड़ाइयाँ लड़ी और एक सुन्दर ससार का निर्माण इस मन ने अपने लिए कर लिया।

मैं विचार कर रहा था कि इस ससार मे जो भी हमारा जीवन है, जो भी हमारी शक्तियाँ हैं, वे इस ससार मे स्वर्ग भी उतार सकती हैं, और नरक भी उतार सकती है। अगर आपका मन पवित्र है, वह शुभ सकल्पो के अन्दर चल रहा है, आपके जीवन के अन्दर अगर वह निरन्तर रस और प्रेम की धारा वहाता चला जा रहा है, अगर वह इस जीवन में विघटन करने का नाम नहीं लेता है, प्रत्युत जोडने का नाम लेता है, और इस प्रकार एक के वाद दूसरा अच्छा वातावरण और दूसरे के वाद तीसरा सुन्दर वातावरण तैयार करता रहता है, एक फुलवाडी से दूसरी फुलवाडी और

दूसरी से तीसरी फुलवाडी लगाता जाता है, और वह महत्त्वपूर्ण प्रेरणा तथा उच्च आदर्श इन्सान के सामने पेश करता रहता है, तो वह निरन्तर स्वर्ग के निर्माण करने की तरफ दौडेगा, अपने जीवन मे स्वर्ग का निर्माण कर लेगा !

पर, अगर आपने-अपने जीवन का आदर्श छोटा कर लिया है अपनी जिन्दगी के अन्दर, जब आप-अपनी जिन्दगी की शुरूआत करते है, तो उस हालत मे कोई खास उच्च दृष्टिकोण आपके सामने अगर नही रहा है, तो आपका जो मन है, वह इधर-उधर भटकेगा, ससार के तग गली-कूँचो की बदबूदार गन्दगियो मे जाएगा, बडी खराब हालत मे इन गन्दी तग गलियो मे घूमेगा और इस प्रकार अपने मन मे बीसो तरह के दुर्गुण, गन्दे दृष्टिकोण और विकार-वासनाए इकट्ठी कर लेगा। वह जहाँ भी कही जाएगा, तो दूसरो मे अच्छाइयाँ नही देखेगा, बल्कि उनकी बुराइयो की तरफ ही निगाह डालेगा। इस प्रकार अपनी अच्छाइयो का अहकार अपने मन मे पैदा करेगा और दूसरो की बुराई, घृणा और नफरत अपने अन्दर डालता चला जाएगा। इस तरह से दोनो ओर से गन्दगियाँ उसके जीवन मे जमा होती चली जाएँगी। जिसका नतीजा यह होगा कि जीवन साक्षात् नरक का रूप लेकर खडा हो जाएगा।

मैं कह रहा था कि मानव एक यात्री है और वह अनन्त-अनन्त काल से यात्रा करता चला आया है। लेकिन, उसकी यात्रा क्यो नही शानदार बन सकी अपने जीवन को वह क्यो ऊँचा नही उठा सका ? परिवार मे गया, तो उसकी जिन्दगियो को क्यो नही ऊपर उठा सका ? राष्ट्र की जिन्दगियो को क्यो नही

वह ऊपर उठा सका ? सारे ससार का कर्म-क्षेत्र उसके सामने काम करने के लिए था, पर क्यो नही वह उसमे काम कर सका ? क्यो अपनी ही खुदगर्जियो मे फँसा रहा ? क्यो अपने-आप मे जीवन को सुन्दर और पवित्र बनाने के सुन्दर विचार जागृत नही हो सके ? उसका कारण है। और, वह कारण यह है कि उसकी दृष्टि भटकी हुई रही। वह अपनी अच्छाइयो और दूसरों की बुराइयो की ओर लगी रही। वह दूसरो की गन्दगी मे भटकती रही।

उत्तरप्रदेश में हम देखा करते हैं कि यात्री जब एक गाँव से दूसरे गाँव में जाता है, तो अपने सामान के रूप मे साथ मे लोटा, डोर, कपड़ा और थोडी-बहुत खाने-पीने की सामग्री एक लम्बे थैले मे डाल लेता है, जिसे गाव की बोली मे खुर्जी कहा जाता है। उसे कन्धे पर डालकर चल पडता है वह। उस थैले का एक सिरा कन्धे से आगे और दूसरा सिरा कन्धे से पीछे की ओर लटकता रहता है। इस तरह वह ग्रामीण आदमी अपनी जरूरत की चीजे आगे और पीछे डालकर अपनी लम्बी यात्रा शुरू करता है।

इसी प्रकार से हम भी अनन्त-अनन्त काल से जीवन की एक लम्बी यात्रा लेकर चले आ रहे हैं। हमारे कधे पर भी वह थैला पड़ा रहता है। लेकिन, एक बात जरूर है कि थैला तो हमने भर रक्खा है। वह आगे भी और पीछे भी भरा रहा है। पर, भर रक्खा है विकारो से। और, वह विकारों का थैला अनन्त-अनन्त काल से चली आ रही अपनी यात्रा मे अपने साथ लिए चले आ रहे हैं हम। इस तरह थैला हमारी यात्रा में हमारे साथ जरूर रहा है, लेकिन वह गलत रूप मे हमने

भर लिया है और इस रूप में हमारे संकल्प-विकल्प ठीक नहीं रहे हैं। वह थैला हमने गलत संकल्पों से भर रक्खा है। जब तक उन गलत संकल्पों को हम उस थैले में से निकाल कर बाहर नहीं फेंक देंगे तब तक हमारा काम नहीं बनेगा।

उस थैले की हालत क्या है? मनुष्य आगे के थैले में भी भरता है और पीछे के में भी भरता है। पर, काम क्या करता है कि अपनी अच्छाइयों और अपने अहंकार को आगे के थैले में डालता है और सोचता है कि मैंने किसके साथ क्या उपकार और भलाई की है? फलाँ आदमी अमुक संकट में फंसा तो मैंने उसे उबारा। उसको सहारा दिया। अगर मैं सहारा न देता, तो बरबाद हो जाता। कोई मूल्य उसका नहीं रहता संसार में। इस तरह अपनी अच्छाइयों को चुनकर, चाहे वे सरसों के दाने के बराबर ही क्यों न रही हों, पर उनका सुमेरु बनाकर आगे डाल रक्खा है।

इसी तरह से दूसरों की जो भलाइयाँ हैं, उनको भूलकर, उनकी जो बुराइयाँ हैं, वे जरा-जरा-सी ही क्यों न हों, सरसों के दाने के बराबर ही क्यों न रही हों, पर उन्हें भी सुमेरु बनाकर, तिल का ताड़ बनाकर आगे डाल लिया और उस रज-कण को हिमालय बनाया। पत्नी में यह आदत है, माता-पिता ने यह बात कर दी है। भाई ने यह कह दिया था। पड़ोसी ने अमुक समय पर बच्चों के मामले को लेकर तकरार की थी। अमुक आदमी ने अमुक समय ऐसा कहा था। इस तरह से हमारे स्वाभिमान को ठेस पहुँचाई थी, ऐसी एक-एक बुराई को जरा-जरा-सी भूल को चुन-चुन कर आगे डाल लिया है हमने।

और जब आगे की तरफ देखता है, तो यह विचार करता है कि मैं तो देवता हूँ। इतनी अच्छाइयों को मैंने पैदा किया। इस ससार के कल्याण के लिए इतना किया, पर लोगो ने क्या बदला दिया ? यह दिया, वह दिया। यह कहा, वह कहा आदि आदि। इस तरह से आगे पड़ी हुई अपनी अच्छाइयों को और लोगो की बुराइयो को देखता रहता है।

और पीछे की तरफ क्या डाल रक्खा है ? दूसरो ने भी कई भलाइयाँ की होगी। आखिरकार, इन्सान के साथ मे बुराई करने वालों के साथ भलाई करने वाले भी रहे होंगे। श्मशान मे वैठकर राक्षसो की तरह तो जिन्दगी नही गुजरी है ? कुछ-न-कुछ अपना निर्माण तो किया ही है। पर दूसरो की जो भलाइयाँ हैं, उनको पीठ पीछे डाल रक्खा है और साथ ही अपनी जो बुराइयाँ हैं, उनको भी पीठ पीछे डाल रक्खा है। आखिरकार, वह भी तो सोने का नही रहा है। वह भी ससार मे इसी तरह से गोते खाता रहा है। इसलिए उसने भी किसी के स्वार्थ को चोट पहुँचाई होगी, अपमान की चोट पहुँचाई होगी, अपनी गलती की चोट पहुँचाई होगी। किसी का मन कुचला होगा और दूसरे बहुत-कुछ हानि की होगी। पर, इन सब अपनी बुराइयो को अपने पीछे डाल दिया है और इस कारण दूसरो की भलाइयो को और अपनी बुराइया को ओझल कर दिया गया है। इसी कारण मे अपने-आप मे जब वह अपने आगे की तरफ देखता है, तो उसे ससार बुरा नजर आता है और पीछे की तरफ ध्यान न जाने से अपनी बुराइयाँ और ससार की भलाइयाँ नजर नही आती है। वे उसके ध्यान में आती ही नही हैं।

यही कारण है कि हमारी वह अनन्त-अनन्त काल से शुरू की गई यात्रा, वह जीवन की यात्रा मंजिल पर नहीं पहुँच रही है। यही कारण है कि हमारी मंजिल, यात्रा की मंजिल पार नहीं हो पाई है अब तक। यही कारण है कि आज परिवार ठीक हालत में नहीं है। यही कारण है कि आज हमारा समाज राष्ट्र और यह समग्र विश्व भी अपनी उच्च तथा महत्त्वपूर्ण आदर्शों को प्राप्त नहीं कर सका है। हमारे व्यक्तित्व में, परिवार में, समाज और राष्ट्र में वह चमक नहीं आ रही है, जो आनी चाहिए। हम धर्म-ध्यान, उपासना और नियमोपनियमों का पालन ऊपरी तौर से जरूर कर रहे हैं, पर उनके अन्तर तक नहीं पहुंच रहे हैं। अन्तर की चीज को नहीं समझ पा रहे हैं। और, उसका कारण रही है हमारी गलत समझ और विपरीत दृष्टि।

पर, मैं कह रहा था आपसे कि इसके लिए हताश होने की जरूरत नहीं है। जीवन के निर्माण के लिए इसमें जरा-सा परिवर्तन लाने की ही जरूरत है। कोई ज्यादा कष्ट की चीज नहीं है। बस इतना कीजिए कि वह पीठ पीछे का थैले का हिस्सा आगे डाल दीजिए और आगे की तरफ का हिस्सा जो है, उसे पीठ पीछे डाल दीजिए। तभी आपको अपना और संसार का रूप सही ढंग से मालूम पड़ेगा। जैसे ही आप सामने देखेंगे, तो जानेंगे कि आप के साथ संसार ने क्या भलाइयाँ की हैं, क्या अच्छाइयाँ की हैं? इसके विपरीत आपने अपना उत्तरदायित्व ठीक-ठीक ढंग से नहीं निभाया है। आप इस संसार के कर्जदार ज्यादा बनते जा रहे हैं। उस कर्ज को अदा करने की आपकी शक्ति ठीक रूप से काम नहीं कर

रही है। इसलिए आप को चाहिए कि आप अपने इन भलाई करने वालो का ठीक-ठीक तरह से बदला चुकाए, इनका ऋण पूरा-पूरा अदा करे और इस रूप मे अपने-आप मे अगर आप प्रेरणा लेगे और अपनी भलाइयो और दूसरो की बुराइयो को, अहकार और घृणा को और इन कुविचारो को पीठ पीछे के भाग मे डाल लेगे, तो उसी क्षण से आप अपने जीवन को सुन्दर, शान्त और पवित्र बना सकेगे।

तो, मै कह रहा था आप से कि मन के सकल्प-विकल्प तो जरूर होगे। वे जरूर उठेगे। उनका रोकना सम्भव नही है। पर, उनकी जरा दिशा बदलने की जरूरत है। इस दिशा बदलने का अर्थ यह है कि इस ससार मे जितने भी साथी आप को मिले हैं, उनके प्रति आप अपने शुद्ध सकल्प और पवित्र विचार कीजिए! आप उनकी भलाइयो को याद कीजिए! उनके उपकारो को याद कीजिए! और, उनको याद करके अपने इस मस्तिष्क के अन्दर एक सुन्दर, शीतल उपवन की सुगन्ध महकाइए। अपने अहकार घृणा और नफरत, जो कि आप के मन मे गन्दगी उँडेल रहे हैं, उनको अपनी नजरो से ओझल कर दीजिए! अगर ऐसा दृष्टिकोण बनाकर आप चलेगे, तो आप अपने जीवन का कल्याण कर सकते हैं और दूसरो के जीवन के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा दे सकते है!

# अमृत और विष

मानव-जीवन में त्याग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना त्याग के जीवन, जीवन नहीं, लाश है। परन्तु त्याग का मतलब क्या है? और त्याग का भावार्थ क्या है? यह सबसे बडा प्रश्न है जिसको हमे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

त्याग का अर्थ केवल अभावों में पिसते रहना नहीं है। कुछ मिल नहीं पाता, कुछ कर नहीं सके और इस कारण अभावो मे रोते बिलखते रहे, इसका अर्थ त्याग नहीं कहा जाता है। भगवान महावीर ने त्याग के सम्बन्ध में बडी ही मार्मिक और सुन्दर बात कही है। उन्होंने कहा है कि 'जो कान्त और प्रिय भोगों से पीठ फेर लेता है जो सब तरह से मिले हुए स्वाधीन भोगों को छोड देता है वही सच्चा त्यागी कहलाता है—

उसका कल्याण कैसे हो और ठीक रूप मे हम उसके द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण कैसे कर सकते हैं? जिस परिवार मे या समाज मे हम रह रहे हैं उसका या सारे राष्ट्र का उत्थान कैसे कर सकते हैं? इसका उपाय एक ही है और वह है त्याग! जिस व्यक्ति के अन्दर त्याग की वृत्ति जितनी अधिक होगी, वह समय पड़ने पर अपने स्वार्थों को उतनी ही दृढ़ता के साथ ठुकरा सकेगा और दूसरो की आवश्यकताओं की पूर्ति का अच्छी तरह से ध्यान रख सकेगा। ऐसा व्यक्ति जीवन में ऊँचा उठता है, उसके अन्दर अच्छे सस्कारो का प्रकाश पड़ता है। वह अपने जीवन मे एक आनन्द और अमृत रस की धारा का अनुभव करता है और उसका पूरा आनन्द उठाता है।

इसी प्रकार से, जिन परिवारो मे छीना-झपटी नही है, प्रत्युत उन परिवारो मे हर व्यक्ति त्याग करने की वृत्ति रखता है और इस तरह से हर तरफ से त्याग की सकल्प-वृत्ति जब उन परिवारो मे जागृत होती है, तब वे परिवार आनन्द मे रहते हैं, सुख और शान्ति मे रहते हैं। यही स्थिति आप परिवार से ऊपर उठकर समाज और राष्ट्र की भी समझ सकते है

लेकिन, जिस परिवार में स्वार्थों की छीना-झपटी शुरू हो जाए! जिसके अधिकार मे जो चीज आ जाए, वही उसको लेकर बैठ जाए! अपने ही सुखो का ध्यान रक्खे और अपने ही दु खो की तरफ ध्यान दे! दूसरो को भी सुख-दु ख हो रहा है कि नहीं हो रहा है, इसका जरा भी सकल्प मन म न रक्खे। पति है, वह पत्नी को भूल जाए। इसी प्रकार से पत्नी भी

पति को भूल जाए अपने स्वार्थों के पीछे। पिता और माताएँ, पुत्र और पुत्रियों को भूल जाएँ और पुत्र और पुत्रियाँ अपने माता-पिता को भूल जाएँ उनके अस्तित्व को भूल जाएँ, उनके जीवन के गौरव को भूल जाएँ और इस हालत में हर व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने स्वार्थों को ही देखना शुरू कर दे, तो मैं कह रहा था आपसे कि वहाँ भोग की वृत्ति बढ़ जाती है। अपनी वासनाओं की ही पूर्ति के लिए फिर जीवन शुरू हो जाता है और ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी ही आकांक्षाओं को महत्त्व देता है, अपनी ही वासनाओं को महत्त्व देता है और अपनी इच्छाओं के पीछे पागल बनना शुरू हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में वह सुख शान्ति और आनन्द की धाराएँ जो परिवार में रहनी चाहिएँ उनका कोई अस्तित्व नहीं रहने पाता है। समाज के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। समाज के अन्दर जो भी व्यक्ति हैं, वे एक-दूसरे को अर्पण करने की मनोवृत्ति रक्खें। अपने पास जो-कुछ भी आया है, उसे भोगने का तो अधिकार है उन्हें। पर, पहले किसी को देकर, फिर उसको प्राप्त करने का, भोगने का अधिकार है। इसीलिए हमारे शास्त्रों की भाषा में और पुराने ग्रन्थों की भाषा में कहा गया है कि—

हुई है, उसके पीछे किसी की आवश्यकता की पूर्ति का भाव रख। अगर कोई जरूरतमन्द है, तो उसमे उसे साझीदार बनाकर पीछे उसे ग्रहण करने की भावना रख। दूसरो को पहले अर्पण कर और फिर बाद मे, जो-कुछ भी तेरा अधिकार है, उसका उपभोग कर।

भोग के पहले अगर त्याग का संकल्प जाग्रत हो गया है, तो वह भोग अमृत बनता है। वह भोग परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र मे जीवन को ऊँचा उठाता है। उसमे अमृत का रस बनता है। जिसमे से पहले वितरण किया गया है, और फिर ग्रहण किया गया है, वह चीज अमृत बनती है। और, जिसमे से पहले देने की बुद्धि पैदा नही हुई है, किसी भी जरूरतमन्द को उसमे साझीदार नही बनाया गया है, जीवन के क्षेत्र मे उस पर मनुष्य स्वय अकेले ही अधिकार करके बैठ गया है, तो जो-कुछ भी इस तरह का भोग है, वह विष बनता है। उसमे से जीवन की शक्ति नष्ट हो जाती है, और जीवन का जो ठीक-ठीक प्रकार का आनन्द है, उसे मनुष्य प्राप्त नही कर सकता है।

इस विचार से, समाज मे भी और राष्ट्र के अन्दर भी, जब-जब यह त्याग की वृत्तियाँ जागृत हुई है, तब-तब समाज और देश ऊपर उठे हैं और जब-जब मनुष्य केवल स्वार्थ मे पड गया है, केवल अपने भोग के पीछे पड गया है, केवल दुनिया की आसक्तियो के पीछे रह गया है और अपने-आप मे महान आदर्शमय जीवन को ठुकरा कर रहा है, तब-तब जीवन का महत्त्वपूर्ण आनन्द उसने प्राप्त नही किया है।

हमारे भारतवर्ष के कवियो ने और पुराने शास्त्रकारों ने मुख को कमल की उपमा दी है। प्रश्न है कि मुख को कमल की उपमा तो दे दी, लेकिन उस कमल मे सुगन्ध भी तो होनी चाहिए या नही होनी चाहिए ? उसमे वह अमृत-रस होना चाहिए कि नही होना चाहिए ? आचार्य कहते है कि—

वाचामृत यस्य मुखारविन्दे, दानामृत यस्य करारविन्दे।
दयामृत यस्य मनोरविन्दे, त्रिलोकवन्द्यो हि नरो वरोऽसौ ॥

जिसके मुख-कमल मे से वाणी का अमृत-रस झरता हो और प्रेम और स्नेह से भरी वाणी निकलती हो जिसकी वाणी का एक-एक शब्द सुनने वाले के जीवन मे सुगन्ध पैदा करता जाता हो, स्नेह पैदा करता जाता हो, तो उन्होंने कहा है कि जो ऐसी वाणी है, वह उस मुख-कमल का रस है। अमृत है वह !

इसके विपरीत, मुख को भी कमल की उपमा तो मिली, लेकिन जब बोले, तब ऐसा बोले कि मानो काटे बिखर रहे हो। मुख से ऐसा बोले कि जैसे कोई आग उगल रहा हो कदम-कदम पर। हमने क्या बोला है और कैसे बोला है इसका कुछ विचार ही न रहे जीवन मे। तो, इसका अर्थ यही हुआ कि उस मुख-कमल का, जो हमे मिला है कुछ करने के लिए हम ठीक उपयोग नही कर सके है जीवन मे।

हम देखते हैं कि लोग छोटी-छोटी बातों को लेकर भी आपस मे झगड़ते हैं। जरा-जरा-सी बातो पर, जरा-जरा-सी बातो के लिए एक-दूसरे पर जब छींटाकशी करते हैं, तो ऐसा मालूम पडने लग जाता कि जैसे कि मन मे कोई स्नेह और रस नही रहा हो। और कुछ बाते और आदते तो हमारे जीवन मे ऐसी होती चली जा रही हैं कि बोलते जाते हैं और गालियाँ मुँह से कहते जाते हैं। इधर-उधर के अपशब्द हमारे मुँह से निकलते जा रहे हैं। जरा भी विचार नहीं करते कि ये शब्द जो निकाल रहे हैं मुँह से, उनका क्या अर्थ है ? उनका भावार्थ क्या है ? हमारा अपना मुँह जो कि अपने-आप मे गन्दा हो रहा है, उसका क्या भाव और क्या परिणाम निकल सकता है ? इसका कोई चिन्तन ही नही करते। शब्द के बारे मे आचार्यों ने कहा है कि—

"एक शब्द सुष्टु प्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग् भाति।"

—महाभाष्य

एक शब्द, जो मुँह से आप विवेकपूर्वक निकाल रहे हैं, प्रेम और शान्ति के साथ निकाल रहे हैं, दूसरो की हित-बुद्धि अगर उसमे छिपी हुई है, तो उन्होने कहा है कि वह एक-एक शब्द आपको स्वर्गलोक की ओर ले जा रहा है, वह देव-भवन मे आपको पहुँचा रहा है और आपके जीवन मे सोये हुए ईश्वरीय तत्त्व को जगा रहा है। और, अगर एक भी शब्द आप गलत बोलते हैं, अपशब्द बोलते हैं, उसके पीछे विवेक-बुद्धि नहीं रखते हैं, और ऐसे शब्द बोलते हैं कि जो दूसरो के दिलो मे कटु बनकर चुभ जाएँ, दूसरो के हृदयो मे मर्म-वेदना बनकर चुभ जाएँ, तो

उस स्थिति में वे जो अपशब्द बोले जा रहे हैं, वे तुम्हारे इस जीवन को गन्दा करते हैं। वे तुम्हारे मुँह के अन्दर एक खराब चीज, खराब संकल्पों को जागृत कर रहे हैं। इसलिए वह एक-एक शब्द आपको नरक की ओर ले जा रहा है। मैं विचार करता हूँ कि उन ऋषियों, महर्षियों ने जो बात कही है वह बात केवल कहने के लिए ही नहीं कही है। उन्होंने मानव-जीवन का गहरा अध्ययन करके, उसका स्पष्ट निर्णय करके और उसकी ठीक भावनाओं का स्पर्श करने के बाद कही है।

उनके कहने का भाव यही है कि मनुष्य का जीवन वाणी के आधार पर ही टिका हुआ है। एक-दूसरे के जीवन का साफल्य जो है, वह वाणी के ऊपर ही रह रहा है। अगर मनुष्य आपस में मिलते और एक-दूसरे के बीच में वाणी न होती, एक दूसरे के भावों को, एक-दूसरे के विचारों को, एक-दूसरे के प्रति स्नेह को, सद्भावना को वहन करने और प्रकट करने के लिए बीच में वाणी न होती, तो हरेक मनुष्य अलग-अलग कीड़े-मकोड़ों के रूप में रेंगते रहते, गूँगे रहते। पशु और मनुष्य में अन्तर नहीं रहता फिर कोई!

इस वाणी ने ही इस मनुष्य को मनुष्य कहलवाया है, विराट् समाज को जोड़कर एक किया है। और इस प्रकार हरेक मनुष्य के जीवन की सुख-दुःख की गाथाओं को एक-दूसरे के जीवन तक पहुँचाया है। इसी के द्वारा हरेक इन्सान ने एक-दूसरे के सुख दुःख में साझीदार बनने की प्रेरणाएँ प्राप्त की है।

जरूरी बात है कि आप अपनी इस वाणी के ऊपर जितना नियन्त्रण रख सकते हैं, वाणी का उतना ही अधिक महत्त्व होगा। आप परिवार में हों, समाज मे हों या कहीं पर भी क्यों न हों, आपकी वाणी एक-सी होनी चाहिए।

पर, आजकल ऐसा देखा जाता है कहीं-कहीं कि परिवार मे आपके बोलने की सभ्यता अलग है, मित्रों और दोस्तों में आप बैठेंगे, तो वहाँ बोलने की सभ्यता अलग बन रही है और अगर आप भीड के सामने, जनता के सामने जाकर बोलेंगे, तो वहाँ बोलने का अलग ढग अपना रहे होंगे। साधु-सन्तों के पास जाकर बात करेंगे, तो वहाँ आपकी वाणी का रूप अलग हो जाता है। इस तरह से बोलने की जो आजकल की सभ्यता बन रही है, उससे बढकर वाणी का बहुरूपियापन और हो नहीं सकता है। जीवन में बहुरूपियापन तो चलता है। इस शरीर की वेश-भूषा भिन्न-भिन्न रूप मे बनाकर लोग हमारे सामने आते हैं तो यह बहुरूपियापन ही तो है। मैं समझता हूँ कि यह शरीर का बहुरूपियापन कोई बुरा नहीं है किन्हीं अर्थों में। पर, जीवन के बाहर वाणी मे अगर आपके बहुरूपियापन आ जाता है, तो यह बहुरूपियापन जीवन को बरबाद करता है। यह बहुरूपियापन जीवन को विनाश के रास्ते पर डाल देता है। इससे जीवन का कोई भी मूल्य नहीं रह जाता है।

इस अर्थ में, जीवन के क्षेत्र में जहाँ कहीं भी आप रहें, बोलने से पहले विचार करें कि जो मैं बोल रहा हूँ, वह क्या चीज है और क्या चीज नहीं है? जो सही और उचित है, वही सब जगह बोल रहा हूँ न? वाणी में बहुरूपियापन

तो नही आ रहा है ? इस तरह बोलने से पहले जो तौलता है, वह ज्ञानी है !

बोलता ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी ! पर, ज्ञानी और अज्ञानी मे थोडा-सा अन्तर रहता है। जो ज्ञानी है, वह बोलने से पहले वाणी को तौलता है, उस पर विचार करता है, उसके फलाफल को सोचकर बोलता है। वह सोचता है कि मै क्या बोल रहा हूँ ? बोलने के बाद उसका क्या परिणाम आएगा ? उसके द्वारा पारिवारिक या सामाजिक जीवन मे क्या हलचल आएगी ? इस प्रकार वह पहले से विचार करता है।

पर, जो अज्ञानी होते हैं और समझदार नहीं होते, वह बोल देते हैं पहले और बोलने के बाद जब-कुछ गडबड होती है, तो फिर विचार करते है कि ऐसा क्यो कह दिया हमने ? पर, कुछ माई के लाल ऐसे भी है, जो न पहले तोलते है, न बाद मे। चाहे कुछ भी परिणाम निकले, बोल ही देते है और बाद मे भी अडे ही रहते है अपनी बात पर !

ऐसी स्थिति मे, साधक के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण विचार यह है कि बोलने से पहले जबान को तोले। अपनी वाणी को तौले। उस पर विचार करे। उसके अन्दर क्या सद्भावनाएँ है और क्या चीज है, इस पर चिन्तन करे ? वितामिता के वाता-वरण मे या कैसे भी वातावरण मे अपनी वाणी को असयत न होने दे

साधक और पण्डित उनके पास आए और बातें करने लगे। वे अपनी क्षमाशीलता की और अपनी सहनशीलता की बड़ी लम्बी-चौडी प्रशंसा करते रहे। मालवीयजी उसे सुनते रहे, सुनते रहे बैठे-बैठे। न हाँ कही, न ना कही। शान्त-भाव से उनकी बातों को धीरे-धीरे सुनते चले गये। और, वह जो सुनाने वाला साधक था, अपनी क्षमाशीलता की और अपनी सहनशीलता की बात को बड़ी तेज भाषा में कहता चला जा रहा था। उसको आवेश आया और उस आवेश में आकर उसने कहा कि अब आप परीक्षा कर लीजिए मालवीयजी, मेरे इस कथन की। आप मुझे सौ गालियाँ दे दें, लेकिन मैं जरा-सा भी क्रोध नहीं करूँगा।

मालवीयजी ने कहा बहुत अच्छी बात है। इस पर साधक ने फिर दोहराया और कहा कि आप परीक्षा ले लीजिए इसकी। आप सौ गालियाँ दीजिए मुझको और देखिए कि मुझे क्रोध आता है या नहीं?

मालवीयजी ने कहा आप तो बड़े ज्ञानी हैं, विचारवान हैं। आप परीक्षा लेने के लिए मुझे कहते हैं। उस परीक्षा में आप पास होंगे या फेल होंगे, यह तो बाद की बात है। लेकिन, मैं तो सौ गालियाँ मुँह से निकालूँगा, तो मैं तो अपना मुँह पहले ही गन्दा कर लूँगा। आपकी परीक्षा के लिए मैं क्यों अपना मुँह गन्दा करूँ? जैसे आप होंगे, होंगे, मेरे को इससे क्या मतलब?

तो, मैं आपसे कह रहा हूँ कि इस प्रकार किसी को कष्ट तो नहीं पहुँच रहा है? इससे किसी को दुःख तो पैदा नहीं हो रहा

है ? इस प्रकार की हिंसा के रूप में ही हमें वाणी को नहीं तौलना है। परन्तु, वाणी को तौलना है, वाणी की पवित्रता के नाते भी। किसी को कष्ट पहुँचे या नहीं, केवल इसी रूप में हर जगह न तौलें, पर यह वाणी अपने-आप में पवित्र भी है या नहीं, अपने-आप में जीवन का एक मिठास और जीवन की एक अपूर्व सुगन्ध हमारे जीवन में यह वाणी पैदा कर रही है या नहीं, इसे भी देखें। आप इस चीज का ठीक-ठीक विचार करते हैं, तब तो जीवन के क्षेत्र में आप आगे बढ़ रहे हैं, यह मानना चाहिए।

हमारे आचार्य आगे कहते हैं—

"दानामृत यस्य करारविन्दे"

हमारे पुराने आचार्यों ने हाथों को कमल की उपमा दी है। जैसे कहा जाता है कि आपके कर-कमलों में यह चीज अर्पण करता हूँ। शब्द तो आजकल भी ज्यादा बोले जाते हैं। यह ठीक है। परन्तु, पहले के लोग इस प्रकार की अलंकार की भाषा अधिक नहीं बोलते थे। आजकल इस प्रकार की अलंकार की भाषा बहुत अधिक बोली जाती है। पर, इस प्रकार की आलंकारिक भाषा का जो उपयोग करते हैं और हर जगह पर कमल की बात कहते हैं, वहाँ हाथ तो कर-कमल हैं जरूर, लेकिन इसके साथ ही हमें यह भी देखना है कि इसके अन्दर जो-कुछ भी रस आना चाहिए, वह रस है या नहीं ? इसके अन्दर में जो अमृत होना चाहिए, वह है कि नहीं इसमें ? इस के अन्दर से जो जीवन की सुगन्ध आनी चाहिए वह आ रही है या नहीं ? इसके लिए आचार्य कह रहे हैं कि —

"दानामृत यस्य करारविन्दे"

जिन हाथों में से दान का अमृत बहता है। जिन हाथों में से उदारता की, प्रेम की, और स्नेह की सुगन्ध बह रही है। जो समय पर कमाना भी जानते हो, तो समय पडने पर देना भी जानते हो। जिनसे जीवन में दान की सुगन्ध और सेवा की सुगन्ध चल रही है, किसी को सहारा देने की भावना का स्रोत जिनके अन्दर बह रहा है, तो हमारे आचार्य कह रहे हैं कि यह है हाथों की, कर-कमलों की सुगन्ध और जिस जीवन में यह सुगन्ध नहीं आई, उसने कुछ प्राप्त नहीं किया।

लोग कहते हैं कि हमें देने के लिए धन नहीं मिला। पर मैं कहता हूँ कि ज्ञान-शक्ति है, वह तो मिली है? कुछ ऐसे भी हैं, जो कहते हैं कि हम बहुत बडे ज्ञानी भी नहीं हैं। लेकिन मैं कहता हूँ कि शरीर तो मिला है? और, यह शरीर ही एक ऐसा है, जिससे हम कुछ सेवा कर सकते है। इस शरीर की तुलना के बारे में हमारे विचारकों और महान दार्शनिक आचार्यों ने कहा है कि 'चक्रवर्ती का राज्य एक तरफ रख छोडिए और यह मनुष्य का शरीर दूसरी तरफ रख छोडिए। फिर दोनों को तौलिए, तो चक्रवर्ती का राज्य जो है, वह मूल्य में गिरेगा और इस शरीर का मूल्य चक्रवर्ती के राज्य से भी बढकर होगा।"

ऐसी स्थिति में जो मनुष्य बने हैं, वे अपने-आप में बडे भाग्यशाली हैं। धन भी पाया है, तब भी ठीक है। लेकिन, अगर कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ है, तो फिर भी वह भाग्यशाली है, जिसने दो हाथ प्राप्त किए हैं। क्योंकि वह उन दोनों हाथों द्वारा गिरते हुए इन्सान को सहारा दे सकता है। पैसा पास

में हो, तो दे भी सकता है, नहीं तो सेवा के लिए दोनों हाथ ही बढ़ा सकता है और गिरते हुए किसी प्राणी को सहारा देने के लिए अगर ये हाथ आगे बढ़ते हैं, तो ये शरीर में इतने बहुमूल्य हैं, जितना मूल्य धन-दौलत और चक्रवर्ती के राज्य का भी नहीं हो सकता।

हम एक कहानी पुराने सन्तों के मुँह से सुना करते हैं। जेठ का तपता महीना और उसमें भी भरी दुपहरी का वक्त! उसमें एक सेठ जी यात्रा कर रहे थे। सेठजी ऊँट पर बैठे थे और साथ ही एक पण्डितजी बैठे हुए थे। बिचारा ऊँटवान पीछे-पीछे दौड़ता हुआ चल रहा था।

रास्ता लम्बा था। चलते-चलते जब वे एक गाँव से कुछ दूरी पर रह गये, तो उस समय उन्होंने क्या देखा कि एक आदमी बीमार पड़ा है और शरीर की स्थिति नाजुक हो रही है उसकी। इतनी दयनीय स्थिति में वह है कि अपने-आपको सभाल भी नहीं सकता है। उसकी कराह और पुकार सारे वायुमण्डल में गूँज रही थी। लोग उसके पास से होकर आ रहे थे, जा रहे थे। पर, उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया जा रहा था।

हम एक जगह यात्रा कर रहे थे। ताँगे मे कुछ लोग बैठे चले जा रहे थे। उनका ध्यान पड गया होगा एक कागज के पुर्जे पर। उसको उन्होंने नोट समझा होगा। तागा रुकवाया गया। तागा रुकवाकर उसमे से उतरे वहाँ तक पहुँचे और जो कुछ भी वहाँ मिला, बडी प्रसन्नता के साथ उसे उठाकर और ताँगे पर बैठकर आगे रवाना हो गए।

तो, एक इकन्नी भी अगर पा जाए पडी हुई, या कागज का टुकड़ा भी पा जाए मिट्टी के रूप मे, उसके लिए खडे भी होगे, उसके लिए तागा भी रुक सकता है, सब कुछ रोककर भी वहाँ तक उसकी सेवा मे पहुँचा जा सकता है और बडी प्रसन्नता से उसे जेब तक पहुँचाया जा सकता है। पर, इन्सान का—जो बहुमूल्य निधि है, चाहे लडका, लडकी, या स्त्री के रूप मे हो, चाहे माता, पिता या किसी साथी के रूप मे हो, बीमार के रूप मे हो, असहाय के रूप मे इधर-इधर राजमार्ग पर या किसी भी सड़क पर बिचारा पड़ा हो—कोई भी मूल्य नहीं है। उसकी तरफ ध्यान नहीं जाता किसी का आज। ऐसी स्थिति मे मैं समझता हूँ आज दुनिया मे हर सिक्के का मूल्य बढा हुआ है, पर इन्सान का मूल्य निरन्तर घटता चला जा रहा है।

तो, वह बीमार आदमी पुकारता रहा, पर किसी ने ध्यान नहीं दिया उसकी तरफ। जब ये तीनो यात्री वहाँ पहुँचे, तो ऊँट रोक लिया गया। सेठजी भी थे और पण्डितजी भी थे। सबसे पहले पण्डितजी की वाणी स्फुरित हुई। पण्डितजी ने कहा भैया, अब तू क्यो पुकारता है? क्यों चिल्लाता है? अब इस पुकारने से और रोने से क्या होगा? तू ने जैसे कर्म बाँधे हैं और जो तूने

कर्म किये हैं, उनका फल तुझे मिल रहा है। कर्म तो तूने किये बुराई के, कर्म तो तूने किये रोने के और इस हालत में जब तुझे उनका फल मिल रहा है, तो हताश क्यों हो रहा है और गडबडाता क्यों है? इस संसार में तो यह नियम है कि जो जैसा करता है, वह उसका वैसा ही फल पाता है—

"यादृक्करणं, तादृग्भरणम्।"

इस तरह पण्डितजी की ज्ञान की वाणी गूँजने लगी। वे शास्त्रों के प्रमाण पर-प्रमाण देने लगे और इधर-उधर के पुराणों और धर्मशास्त्रों के जो प्रमाण और भावनाएँ थीं, उनको उन्होंने उस वायु मण्डल में बिखेरना शुरू कर दिया।

लेकिन, वह बिचारा बीमार छटपटा रहा है, वेदना से कराह रहा है। सारा शरीर उसका उस जेठ की तपती दुपहरी में झुलस रहा है। एक आग-सी जो है, उसके बदन में लग रही है। उस वेदना से वह व्याकुल हो रहा है।

मैं समझता हूँ कि जिसका दिल और दिमाग जरा-सा भी ठिकाने है, वह किसी को ऐसे समय में ज्ञान का उपदेश नहीं दे सकता। पुराने जन्म में क्या किया और क्या नहीं किया? और कर्म क्या है और उनका भोग क्या है? ये सारी बातें उस समय की करने की है, जबकि मनुष्य स्वस्थ और प्रसन्नता के वातावरण में हो। जहाँ का वातावरण व्याकुलतामय है, जो वेदना से स्वयं व्याकुल है, जो घावों से कराह रहा है, उन घावों पर यह ज्ञान, अमृत का काम नहीं देता, मरहम का काम नहीं देता, बल्कि उन्हें अधिक चुटीला बनाता है उन पर नमक छिडकता है। यह उपदेश नहीं, उपदेश का मजाक है।

सेठजी ने पण्डितजी का यह ज्ञान-भरा उपदेश सुना और कहा कि "पण्डितजी, यह आपका ज्ञान उस विचारे के क्या काम आएगा ? उसकी स्थिति तो बड़ी नाज़ुक है और ऐसी स्थिति में यह ज्ञान का उपदेश, जो आप दे रहे हैं, वह तो कुछ ठीक नहीं बैठेगा।"

पण्डितजी ने जवाब दिया हमने तो अपना काम कर दिया। अब तुम अपना काम करो।

सेठजी ने जेब में हाथ डाला और जो-कुछ भी सिक्के पास में थे, उनकी मुट्ठी भरी और उन्होंने फेंक दी ऊपर से। और, कहा · लो भाई, तुम इससे अपना अच्छी तरह से इलाज भी कराना और अच्छी तरह से खाने-पीने के लिए भी अपनी व्यवस्था कर लेना। चलते-चलते अन्त में सेठजी ने कहा कि भाई, हम इससे बढ़कर और तुम्हारी मदद कर भी क्या सकते हैं ?

लेकिन, उसका जो शरीर है, वह हरकत में नहीं आ रहा है। वह अशक्त है। उसमें उठने की क्षमता भी नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके सामने अगर लक्ष्मी का ढेर भी कर दिया जाए, तो उसका उस सूने जंगल में क्या करेगा वह बिचारा ? दान का मूल्य तो जरूर है। दान अपने-आप में, कुछ काम तो कर सकता है, लेकिन हर जगह उसका मूल्य नहीं है। हर जगह उस दान की कीमत भी नहीं है। वह बूढ़ा बीमार आदमी छटपटा कर रह गया। एक बार उसने उन सिक्कों को देखा और उन्हें देखकर उसकी आँखों में एक बार चमक तो जरूर

आई, पर फिर आँखो से उसके आँसू की धारा बहने लगी अपनी असहाय अवस्था पर। दानी से दान मिलने पर भी वह कुछ कर नहीं सका, उसका कुछ लाभ नहीं ले सका।

यह हालत उस ऊँट वाले ने देखी। उसे दया आई और उस विचारे ऊँटवाले ने कहा सेठजी! आपका दान कुछ काम नहीं देगा इस जगह। और, पण्डितजी! आपका ज्ञान भी इस जगह कुछ काम नहीं देगा। मेरे पास न शास्त्रों का ज्ञान है और न मेरे पास रुपया और पैसा ही है कुछ। केवल यह एक शरीर है और मैं विचार करता हूँ कि यहाँ पर कम-से-कम यह मेरा जो शरीर है, यह ज्यादा काम आ सकता है।

आपने अपना-अपना काम कर लिया है। अब मुझे भी अपना काम करना है। आप आगे चलिए। मैं पीछे-पीछे आ रहा हूँ। गाँव में कुछ थोड़ी देर इन्तजार जरूर करना। वह आगे बढ़ा और उस बीमार को उठाया। कन्धे पर रक्खा और वह रुपया-पैसा जो-कुछ भी पड़ा था, उसे भी उठाया। अब कहाँ चला वह? दूर एक गाँव था, वहाँ वह पहुँचा। वहाँ कहाँ अस्पताल में व्यवस्था करके, उसे रख छोड़ा। पैसा-वैसा भी उसका उसे दे दिया। उसके खाने-पीने और औषधि आदि का भी प्रबन्ध कर दिया। और, तब उसने कहा भाई अब तुम पण्डितजी का ज्ञान भी विचारना और सेठजी का जो दिया हुआ दान का पैसा है, उसका भी अपनी सेहत के लिए उपयोग करना। मेरी जो सीमा है सेवा करने की, वह अब समाप्त हो रही है।

महत्त्व है। जीवन में दोनों का ही महत्त्व है वैसे तो! लेकिन, मैं विचार करता हूँ कि कोई समय ऐसा भी आ सकता है कि जहाँ ज्ञान भी काम नहीं देता है, शास्त्र और बुद्धि भी काम नहीं देती है, और वहाँ दान तथा सम्पत्ति भी काम नहीं देती है। वहाँ पर तो हमारा शरीर जो है, वह अगर ठीक रूप में सेवा करने के लिए तत्पर रहता है, तो वहाँ वह बहुत बहुमूल्य सेवा का काम कर जाता है। हमारे आचार्य कहते हैं—

"दानामृत यस्य करारविन्दे"

जिसके हाथ से दान का अमृत बह रहा है, तो वह इस संसार के अन्दर वास्तव में कर-कमल की उपयोगिता धारण कर रहा है। आगे चलकर आचार्य हमारे हृदय को भी कमल की उपमा देते है —

"दयामृत यस्य मनोऽरविन्दे"

हृदय तो जरूर कमल का है और कमल की उपमा भी उसे दी गई है। पर, उसमें से अगर क्रोध की, मान की, माया की, लोभ की, लालच की और अभिमान आदि की दुर्गन्ध आ रही है, तो फिर वह कमल क्या हुआ? वह तो दुर्गन्ध का भण्डार है! हृदय-कमल का महत्त्व इस में है कि उससे दया की सुगन्ध आए, प्रेम की सुगन्ध आए! मनुष्य अपने इस जीवन में जहाँ कहीं भी खड़ा हो, तो हृदय के अन्दर में, उस अन्तरंग जीवन से दया, स्नेह और प्रेम की सुगन्ध अगर महकती है, तो हम कहते हैं, वह हृदय कमल है।

भारतीय संस्कृति में पैरों को भी चरण कमल कहा गया।

है। बात ठीक है। चरण भी कमल का रूप लिए हुए है। संसार में अगर कोई उन चरण-कमलों की पूजा कराना चाहता है और कोई यह विचार करता है कि संसार जो है, वह मेरे चरण-कमलों में झुके और भँवरा बनकर मेरे पास आने लगे। मेरे इन चरण-कमलों में मस्था टेके। लेकिन, उसका जितना ध्यान अपनी पूजा कराने का और भँवरे के रूप में जनता को अपनी तरफ खींचने का है, उतना ध्यान अगर जीवन में सुगन्ध बसाने का नहीं है तो आचार्य उसके लिए कह रहे हैं कि जब तक तुम्हारे मुख-कमल से अमृत का झरना नहीं बहेगा, इन कर-कमलों से सेवा का अमृत नहीं बहेगा, जब तक तुम्हारे इस हृदय-कमल में से प्रेम, दया और करुणा की सुगन्ध नहीं फूटेगी, तब तक वह जनता-रूपी भँवरा पागल नहीं है, जो तुम्हारे पास आएगा। तुम अपने लिए चरण-कमल का महत्त्व रख सकते हो, पर इन बातों के अभाव में उनके लिए तो तुम काँटे ही बनोगे। कमल नहीं बन सकते।

कर्तव्य पहले है, अधिकार बाद में है। कर्तव्य का अर्थ यह है कि जिसके मुँह से वाणी का अमृत झरता है, जिसके हाथ निरन्तर दान की वर्षा करते रहते हैं और जिसका मन, जिसका हृदय, दया, करुणा और सद्भावना का सुधारस बरसाता रहता है। वह तीन लोक का वन्दनीय महापुरुष है। दरअसल, उसी को ससार मे अपने चरण पुजवाने का, ससार मे मान-प्रतिष्ठा और आदर-सत्कार पाने का अधिकार है !

अगर आज मनुष्य इस उदार तत्त्व को हृदयगम कर ले, जीवन के हर व्यवहार मे से विष को निकाल दे, और अपने मन, वाणी और कर्म मे अमृत भर ले, तो परिवार का जीवन भी अमृतमय बन सकता है, समाज का जीवन भी अमृतमय बन सकता है और राष्ट्र का जीवन भी अमृतमय बन सकता है। जब राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने-आप मे अमृतयोगी बनेगा, तभी जाकर राष्ट्र का कल्याण है। और, राष्ट्र के कल्याण मे ही व्यक्ति, परिवार और समाज का कल्याण सुरक्षित है।
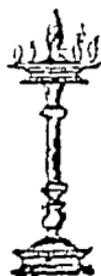
# जीवन के चार प्रकार

यह संसार जो हमारी आँखों के सामने है, उसमें अनन्त-अनन्त पदार्थ हैं। कुछ अच्छे भी हैं और कुछ बुरे भी हैं। साधक या कोई महापुरुष जब अपने जीवन के सम्बन्ध में या संसार के जीवन के सम्बन्ध में विचार करने के लिए तैयार होते हैं, तो वे किसी एक चीज को पकड़ लेते हैं, और, उस पर मनन और चिन्तन करते जाते हैं। उस चिन्तन को वे अपने ऊपर भी घटाते जाते हैं और विश्व के सभी इन्सानों पर भी घटाते जाते हैं।

भगवान महावीर अपने युग के एक बहुत बड़े महापुरुष हो चुके हैं। संसार का ऐश्वर्य और साम्राज्य बहुत बड़ा उन्हें मिला था। अगर वह इस दुनियादारी की उलझन में फँसे रहना चाहते, तो अपना जीवन बड़े आनन्द में और ऐश्वर्य के झूले में झूलते हुए गुजार सकते थे। परन्तु, कभी ऐसा होता है कि यह बाहर का ऐश्वर्य जो है, वह कुछ लोगों को तो मोह लेता है, पर कुछ लोगों पर वह अपना कुछ भी असर नहीं डाल सकता। जो अपने जीवन की गहराई में चले जाते हैं, और वहाँ पर अपने जीवन के ऐश्वर्य को—जो अपने अन्दर में रह रहा है—देखते हैं कि वह नष्ट और विकृत हो रहा है, साफ, शुद्ध नहीं हो रहा है और बाहर का जीवन उसके कारण बनता चला जा रहा है, तो ऐसी

स्थिति मे वह बाहर को ठोकर मार देते हैं और अन्दर की रक्षा करने का प्रयत्न करते है।

इस तरह से वह ससार का विराट् पुरुष एक दिन सोने के सिंहासन पर जन्म लेता है और ससार का समस्त ऐश्वर्य जिसके चरण चूमता है। सुख और आनन्द जिस पर चारो तरफ से बरसता है। परन्तु, फिर भी उसका मन नही लगा उसमे। उस स्थिति मे भी वह मन की शान्ति को प्राप्त नही कर सका। इसलिए सब वैभव को छोड कर वह जीवन की साधना के मार्ग पर चल पड़ा और उस परम-तत्त्व को पाने के लिए कठोर साधना की। सयम एव तप की साधना के द्वारा परम तत्त्व प्राप्त किया और ससार को बताया कि जो-कुछ भी मैंने प्राप्त किया है, जो-कुछ भी जीवन की मजिल मैंने तय की है, वह मंजिल ये विश्व के जितने भी प्राणी है, सब तय कर सकते है। जो कुछ मैंने प्राप्त किया है, ये विश्व के सभी प्राणी उसको प्राप्त करने के हकदार है। वे भी उसे वैसे ही प्राप्त कर सकते हैं, जिस प्रकार मैंने प्राप्त किया है। लेकिन, अपने स्वरूप को न समझने के कारण वे कुछ भी प्राप्त नही कर पा रहे हैं।

इस रूप मे, उस महापुरुष ने विश्व को जो मानवता का सन्देश दिया, उस सन्देश मे वह इन बाहर के स्थूल पदार्थों को पकड लेता है, और उनको अन्तर्जीवन मे घटाने का प्रयत्न करता है। उसके द्वारा मनुष्य के सामने सुन्दर कल्पना, एक सुन्दर विचार और महान् ध्येय रख छोडता है। फूल को लेकर उस युग-पुरुष ने एक सुन्दर रूपक ससार के सामने रखते हुए

कहा कि इस संसार के वनस्पति-जगत् में और फूलों के जगत् में चार प्रकार के फूल होते हैं। इन चार प्रकार के फूलों पर संसार अगर ठीक तरह से विचार करे, तो उसे अपने जीवन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ विचार-सामग्री प्राप्त हो सकती है।

उसने कहा कि फूल का एक प्रकार वह है कि जो कि रूप-सम्पन्न है, परन्तु गुण-सम्पन्न नहीं है। रूप तो सुन्दर है और आँखों को भी मोह लेता है। इधर-उधर जाने वाले कितने ही आवश्यक कार्य के लिए कहीं भी चले जा रहे हों, परन्तु उसका बाहर का सौन्दर्य उनको भी रोक लेता है कुछ देर के लिए। उनकी आँखें वहाँ से हटने का नाम भी नहीं लेती हैं, इतना सुन्दर चटकदार उसका रंग होता है और रूप होता है। लेकिन, जब मनुष्य उस फूल के पास से पहुँचता है उसके रूप से आकर्षित होकर, तो वह गन्ध को देखना चाहता है। परन्तु गन्ध उसमें नहीं होती। वह खाली रूप का वैभव तो लेकर बैठा है और उस बाहर की सुन्दरता का खजाना जरूर उसके पास से भरा पड़ा है, परन्तु फूल जिस केन्द्र पर खड़ा है, उस दर्जे की गन्ध उसमें नहीं है। जब मनुष्य उसकी गन्ध लेना चाहता है, सूँघने का प्रयत्न करता है, तो कुछ नहीं पाता वहाँ। और, जब देखता है कि उसमें कुछ भी गन्ध का तत्त्व नहीं है, तो वह उसे फेंक देता है।

बड़ी सुन्दर है, शरीर का गठन भी अति सुन्दर और सुडौल है। धन भी है, वैभव भी है। प्रतिष्ठा भी है और एक बहुत बड़े खानदान मे जन्मा है। उसके पीछे रूप रहा है और उस रूप मे धन की चमक भी है। कुल की, जातीयता की भी चमक है और आकृति का वैभव और प्रतिष्ठा के सारे भाव उसके पीछे चल रहे हैं। दूर-दूर से देखने वाले मनुष्य विचार करते हैं कि यहाँ कुछ होगा। जीवन का कुछ आधार होगा। यहाँ जीवन का कुछ आदर होगा। मेरे जीवन की जो समस्या है, जो उलझी हुई है, उसको सुलझाने के लिए यहाँ कुछ मिलेगा मुझे; परन्तु जब जाता है वहाँ उसके पास मे, तो वहाँ तो उसका हृदय बिल्कुल सूना पाता है। वहाँ न अहिंसा की सुगन्ध होती है उसमे, न सत्य की सुगन्ध होती है उसम और इन्सानियत की सुगन्ध भी वहाँ बिलकुल नहीं होती। वह इस प्रकार नीरस और कठोर अपने जीवन मे रहता है कि उसके पास जाकर जब इन्सान वापस लौटता है, तो प्रसन्न होकर आया था, पर रोता हुआ लौटता है।

ऐसी स्थिति मे भगवान् महावीर कहते हैं कि यह भी क्या जीवन है, जो बाहर मे तो इतना सुन्दर बनाया जाए, बाहर का ऐश्वर्य तो चारो तरफ इकट्ठा कर लिया जाए, पर अन्दर के जीवन मे मनुष्य सूखा रह जाए। अन्दर मे मनुष्य की मानवता की सुगन्ध अगर महकी नहीं उसमे और अगर आगन्तुक के लिए वह कुछ भी चीज अर्पण नहीं कर सका, तो वह जीवन ससार मे कोई आदर का स्थान नहीं पा सकता और जनता मे आदर का पात्र नहीं बन सकता। अपने जीवन

के अन्दर ही जब वह आदर की चीज नहीं बन सकता, तो बाह्य जगत् में तो कैसे आदर का पात्र बन सकता है ?

इस सम्बन्ध में भिक्षु होने के नाते, साधु होने के नाते और जनता में सम्पर्क होने के कारण बहुत-कुछ अनुभव हमारे हैं जीवन के, इन्सान को परखने के। इन्सान कहाँ, किस रूप में, कैसे चल रहा है अन्तर्जगत् में, इसको देखने का मौका भी काफी मिलता रहता है।

एक समय की बात है कि हम साधु एक प्रदेश में से गुजर रहे थे। चलते हुए हम एक ऐसे गाँव में चले गए [illegible]। [illegible] से हमारा परिचय नहीं था। जानते नहीं थे [illegible]। [illegible] का समय हुआ और पात्र उठाए हमने।

आखिर, वहाँ एक सज्जन ने कहा कि बाबा! यहाँ क्या रक्खा है हमारे पास तुम्हें देने के लिए? तुम तो यों ही भटक रहे हो हमारे दरवाजों पर। वह देखो उस गाँव के कोने पर एक हवेली दिखाई दे रही है ऊँची-ऊँची। वे यहाँ के एक सेठजी है और बड़े आदमी है। आप वहाँ पहुँचिए। वहाँ आपको कुछ मिलेगा। बात कह दी सरल-भाव से उस सज्जन ने।

हमारे साथी ने कहा बात तो ठीक कहता है यह बिचारा! जब उनके अपने जीवन की समस्याएँ ही हल नहीं हो पा रही हैं, तो ये आपको कहाँ से देंगे? तो बड़े घर चलना चाहिए। वहाँ कुछ-न-कुछ मिलेगा जरूर!"

मैंने कहा हाँ, जो तुम ऊँची हवेली देख रहे हो वह बड़ा घर तो जरूर है। ऐसी स्थिति में, तुम्हारे मन में जो विचार घर कर गया है, तो उसे भी देख लो! वहाँ जरूर मिलेगा कुछ! देख लो! परीक्षा कर लो!

वहाँ गए साहब! वास्तव में मकान तो काफी सुन्दर और बड़ा बना रक्खा था। ऊँची हवेली झुक रही थी। चढ़े साहब ऊपर! एक मंजिल तय करके, दूसरी मंजिल तय करके ऊपर पहुँचे, तो देखा कि घर में भोजन बन रहा है। हमने अच्छी तरह से देखा कि रोटियाँ बनी हुई एक तरफ रक्खी हुई हैं। पास में कुछ बहनें बैठी हैं और काम कर रही हैं रसोई का। लेकिन, जैसे ही हमें देखा उन्होंने, तो सब चुप! हमारे साथ के सन्त ने रसोई की तरफ देखा। लेकिन, वह ऐसा तो नहीं कह सकते अपनी मर्यादा में कि रोटी दे दो। वह अपनी

सयत भाषा में और जो कि सिद्धान्त की भाषा हमें मिली है, मर्यादा की प्रेरणा हमें मिली है, उसके मुताबिक वह केवल इतना ही कह सकते थे कि भोजन तैयार है क्या ?

और, जब पूछा तो सन्नाटा ! बहनें जरूर बैठी थी वहाँ। बहुत-कुछ गहना उन्होंने अपने बदन पर लाद रक्खा था। उसमें एक कुछ तो चाँदी का था और सोने का भी काफी था। जैसे एक किसी बैंक में इकट्ठा कर लिया होता है सोना-चाँदी, इस तरह सारे शरीर पर सोना-चाँदी लदा हुआ था बहुत सा ! अपनी मौज में बैठी थी वे। अब हम गये, तो नमस्कार करना, या उठना या पूछना कि कुछ लीजिए साहब ! यह कुछ नहीं। कोई बात नहीं। दुबारा कहा साथी ने कि भोजन तैयार हो गया ? तो फिर भी वह नहीं बोली। तीसरी बार जब उसने कहा, तो मैंने कहा कि तीसरी बार की नौबत आ गई है, चौथा नम्बर तो लाना नहीं है। हाँ या ना हो गई तो ठीक, नहीं तो कुछ नहीं।

तीसरी बार जब कहा, तो थोड़ी बहुत हरकत हुई उनके अन्दर। मैंने सोचा प्राणायाम की समाधि तो टूट गई है। अब कुछ-न कुछ जरूर मिलेगा।

जो भोजन तैयार था, उस सम्बन्ध में तो हाँ या ना कुछ नहीं कहा उन्होंने। एक बहन ने कहा कि कुछ दे दो इन्हें। तो साहब, दूसरी बहन खड़ी हुई और अन्दर गई कोठे में। तो साहब, बात यह है कि साधु जब कहा भोजन लेने जाए और चौके में बहन बैठी हो और चौके में से वह बहन साधुजी को दरवाजे पर आता देखकर उन्हें कुछ देने के लिए कुछ परोसने

के लिए रसोई का चौका छोड़कर जब अन्दर कोठे मे जाती है, तो जरूर कोई विशिष्ट सामग्री अन्दर से आएगी, यह इस बात का प्रतीक होता है और यह अनुभव है हमारा !

साथी ने कहा यह अन्दर गई है, तो जरूर अन्दर से कोई विशिष्ट सामग्री आएगी , क्योंकि अब भावना जाग उठी है।

अपनी भाषा मे जब हम कहते हैं कि वह तो अन्दर गई है, तो समझ लेते हैं कि चौके की सामग्री इतनी ज्यादा सुन्दर नही है, जितना कि कोठा सुन्दर होता है।

मैंने कहा बहुत अच्छी बात है भाई !

अन्दर जाने के बाद वह एक बासी रोटी लाई और जब देने लगी, तो हमने पात्र आगे किया। देते-देते उसका जो उदारता का भाव चढ रहा था, उसने न मालूम क्या परिवर्तन खाया कि जो रोटी लाई थी, उसने आधी रोटी तो पात्र मे डाल दी और आधी वापस ले गई।

हम तो चले आए। साथी ने कहा आधी रोटी वापस कैसे ले गई वह ?

मैंने कहा यह रोटी तुम्हारे से भी ज्यादा अच्छे किसी और पात्र की खोज मे रहेगी। तुम तो अपने-आपको पात्र समझते ही हो, लेकिन सम्भव है, कोई तुम्हारे से भी अच्छा पात्र मिले और वह उसको भरे।

इस का अर्थ यह है कि बड़ा घर तो जरूर है, लेकिन बड़ा

मन नहीं है। प्रश्न है कि संसार को बड़ा घर चाहिए कि बड़ा मन चाहिए?

विवाह और शादी का जब प्रश्न होता है, तो आम तौर पर लोग भटकते हैं बड़ा घर देखने के लिए। ऊँची-ऊँची हवेलियाँ वे देखते हैं। लम्बा-चौड़ा कारोबार देखते हैं और इधर-उधर भटक-भटका कर हैरान होते रहते हैं। लेकिन, प्रश्न यह है कि वह बड़ा घर तो जरूर देखते हैं, पर यह भी देखते हैं कभी कि वहाँ बड़ा मन भी है या नहीं? जब तक इन विशाल ऊँचे-ऊँचे महलों में विराट और विशाल आत्मा नहीं निवास करती हैं, तब तक प्रकाश आता नहीं है, रोशनी चमकती नहीं है और जीवन में कुछ देने-लेने और संसार में कुछ करने-जैसा उनके लिए रहता नहीं है।

मैं आपसे कह रहा था कि कुछ फूल ऐसे होते हैं, जो कि रूप तो सुन्दर रखते हैं, पर गन्ध सुन्दर नहीं रखते हैं।

जीवन के सम्बन्ध में उस जीवन के द्रष्टा भगवान महावीर ने कहा कि मनुष्यों के जीवन में भी कुछ ऐसे हैं, जो कि रूप का तो भार बहुत-कुछ लिए हुए रहते हैं। सुन्दर शरीर, यौवन, प्रतिष्ठा और धन-सम्पत्ति आदि सामाजिक पदार्थों का बहुत भार ढोते रहते हैं अपने जीवन के अन्दर में। इस संसार का जो बाह्य रूप है, वह बहुत बड़ी चीज लिए रहते हैं। लेकिन, अन्दर में इन्सानियत की सुगन्ध नहीं रखते। जीवन में प्रेम और स्नेह की शुद्ध भावनाएँ नहीं रखते। इस तरह का जीवन अन्दर में रूखा हुआ-सा रहता है। जब वह प्रेम का जल उसके अन्दर बहना बन्द हो जाता है, तो

केवल वह प्रतिष्ठा-रूपी रूप का भार और जो वाहर का सौन्दर्य और ऐश्वर्य है, वह इन्सानियत के लिए कलक-मात्र वनकर रह जाता है। उसके अन्दर अच्छाइयाँ पनप नही सकती।

परन्तु, फूलों का एक प्रकार ऐसा भी होता है, जो कि रूप-सम्पन्न तो नहीं होता, पर गन्ध-सम्पन्न जरूर होता है। वाहर मे वह फूल कोई खास चटकदार रंग का तो नही होता और रूप की आकृति की चमक-दमक दिखा नही सकता है, लेकिन अपने-आप मे वह गन्ध का भडार लिए रहता है। वह सुगन्ध विखेरता रहता है इधर-उधर वायुमण्डल मे। उसके चारो तरफ का वातावरण सुगन्ध से महकना शुरू हो जाता है। और, जीवन के लिए सद्-भावना का वातावरण तैयार कर लेता है, तो वाहर मे जव तक वह ठीक परिचय मे नही आता है, तव तक कुछ नहीं था, पर पास पहुँचते ही प्रमुदित हो जाता है पास मे जाने वाले का मन।

इस रूपक को लेकर भगवान् महावीर ने कहा ससार के कुछ पुरुष ऐसे भी है, जो कि अपने-आप मे वाहर मे कोई रूप और कोई रग अच्छा नहीं रखते है। वाहर मे धन-वैभव जैसी कोई चीज नहीं होती है उनके पास। सम्भव है कुल की और जातीयता की सुन्दरता भी नहीं रहती है उनके पास। लेकिन, अपने-आप मे वह इतने सुगन्धित है, इतने मधुर है अपने जीवन में, उनमे इन्सानियत की सुगन्ध इतनी वडी महकती रहती है, दया, प्रेम, करुणा और इन्सानियत की सुगन्ध उनके जीवन की इतनी वडी विशाल होती है कि जव कभी कोई मनुष्य उनके सम्पर्क मे आता है, तो चाहे किसी भी स्थिति मे क्यों न

आए। सम्भव है कि उसका वे बाहर के रूप से उपकार कर भी सकें या नहीं कर सकें अपनी परिस्थितियों के कारण। परन्तु, उसके जीवन पर प्रभाव जरूर डालता है उनका जीवन। प्रेम और स्नेह से भरा वातावरण उसके जीवन को इतना सुगन्धित बना देता है कि सारा जीवन निकल जाता है, लेकिन वह उन को भूलता नहीं है और उसकी इन्सानियत को भी भूलता नहीं है। इस रूप से देखते हैं कि जीवन के अन्दर वह केवल बाहर के रूप से नहीं, अन्दर के रूप से रहते हैं।

भगवान महावीर जब कठोर साधना कर रहे थे, तपस्या में लीन थे, तो एक व्यक्ति निरन्तर भगवान महावीर के पास आता-जाता रहता था। साधना-काल में चार-चार महीने से निरन्तर उसने उपासना की थी और यह कहा था कि भगवन! जब आपका भिक्षा का समय हो और जब आपके आहार के करने का समय हो, तो मेरे घर के आंगन को पवित्र करना। एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, चार-चार महीने जिसने जीवन में यह भाव रक्खा। लेकिन, जब समय आया भिक्षा का और उस कार्तिक-पूर्णिमा के बाद, चार महीने की तपस्या का काल गुजरने के बाद भगवान महावीर भिक्षा के लिए चले तो कहां पहुँच जाते हैं साहब ?

पहुँचे, तो वह सेठ छज्जे पर घूम रहा था। भिक्षा के लिए उन्हे खडा देखकर, अपनी दासी से उसने कहा कि क्या देखती हो? यह खड़ा है भीख माँगने के लिए? कुछ दे डालो और विदा करो इसको यहाँ से जल्दी! विचारी दासी? उसके पास क्या है अपना? उस दासी की भावनाएँ तो प्रबल थी, पर देने को कुछ नही था उसके पास। कुछ दाल के छिलके थे। वह दाल के छिलके थे, जो कि दाल के ऊपर से साफ कर लिये जाते हैं, जिन्हे चोया कहते हैं उत्तर प्रदेश मे। उन्हे गिराने के लिए वह दासी जा रही थी। उस विचारी के पास देने को और कुछ नही था।

उस दासी ने कहा मेरे पास तो कुछ नही है।

सेठ ने कहा कुछ ले तो रक्खा है?

"ये तो दाल के छिलके है। उन्हे गिराने के लिए जा रही हूँ। और कुछ नही है मेरे पास।" दासी ने उत्तर दिया।

"बस तो यही दे डालो—सेठ ने आज्ञा दी। कही का सम्राट् और चक्रवर्ती थोड़े ही आ गया है, जिसके लिए घर मे कुछ और करना पड़ेगा? लेना है, तो ले। देकर विदा करो। ये दाल के छिलके ही दे दो।"

अब विचारी दासी खडी है। उसका मन प्रेम और स्नेह के अन्दर गद्गद है। वह विचार करती है कि एक महापुरुष सामने खडा है और यह मुझे देने का सौभाग्य मिल रहा है कि मै उसे दूँ। लेकिन, इस घर के आगन मे और लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति मे मेरा अपना कुछ भी नही है! सेठ की

आता है कि यह थाल के छिलके ही दे डालो ! अब इन्कार भी करूँ, तो कैसे करूँ ? उसका मन काँपता है उसके प्राण काँपते हैं, और उसके हाथ काँपते हैं।

लेकिन, *भगवान महावीर*, वह दया और करुणा के अवतार शुद्ध और प्रसन्न-भाव से हाथ फैला देते हैं। वह दासी थाल के छिलके ही दे डालती है और कहती है कि भगवन ! मेरे पास इसके सिवा और कुछ देने को नहीं रह गया है।

हमारे शास्त्रकारो ने कहा कि उस दान का और उन दाल के छिलको का कोई मूल्य नही है। मूल्य तो भावना का है। वह दाल के छिलके जरूर दिए दासी ने, पर उसका मन कितना सुन्दर था! विचार कितने पवित्र थे उसके! वह अपने-आप मे विचारी उस सन्त पुरुष को देखकर कितनी गद्गद हो गई! कितनी स्नेहाकुल हुई! दिए जरूर उसने वे छिलके, पर देने का मन नही था। फिर भी दिये। इस दान से भी वह अपने जीवन मे एक भव लेकर मोक्ष जाने की अधिकारिणी बन गई।

तो, मैं आप से बात कह रहा था कि कुछ जीवन ऐसे है, जो कि रूप-सम्पन्न तो नही है, पर गन्ध-सम्पन्न होते हैं। बाहर मे एक अतिथि का मान-सम्मान हो सके, ऐसी स्थिति नही है उनकी। देने की क्षमता नहीं है बाहर मे। ससार का ऐश्वर्य बिलकुल नही है; पर मन विशाल होता है और मन मे दया, प्रेम और करुणा का झरना बहता है। बहुत से ऐसे जीवन होते हैं जो कि पहले-पहले बाह्य मे बिलकुल छिपे रहते हैं, निरादर और निराश्रित रहते हैं, पर उनका ऐसा ऐश्वर्य है जीवन का कि वे इस ससार मे अजर, अमर बनकर रह जाते है उस जीवन के ऐश्वर्य को पाकर।

भगवान् महावीर कहते है कि कुछ फूल ऐसे भी होते हैं, जो कि रूप-सम्पन्न भी होते हैं और गन्ध-सम्पन्न भी होते है। उनके अन्दर रूप का आकर्षण भी होता है और महक देने का गुण भी होता है। इसी प्रकार कुछ मनुष्य भी ऐसे होते हैं कि जिनके अन्दर बाहर मे भी ऐश्वर्य रहता है, बाहर मे भी जीवन खाली नहीं होता। जितनी वे बाहर प्रगति करते है,

जितना बाहर में, जीवन के विशाल आंगन में अपने जीवन को फैलाना शुरू करते हैं, उतना-उतना उनके अन्दर का जीवन भी फैलना शुरू होता है। ज्यों-ज्यों धनी मानी सम्पत्तिशाली और ऐश्वर्यशाली होते जाते हैं त्यों-त्यों मन से भी वह धनी होते जाते हैं। ज्यों-ज्यों बाहर में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों जीवन के अन्दर भी स्नेह और सद्भावना का झरना गतिशील होता जाता है।

मै आप से बात कर रहा था कि इस ससार मे बाहर का धन-वैभव, मान-सम्मान, पाना और इस ससार के-बाहर के ऐश्वर्य के अन्दर अपने-आपको भूल जाना, यह मनुष्य का गुण नही है। यह मनुष्य का सही विश्लेषण नहीं है। वास्तव मे उसका सही विश्लेषण तो यह है कि अपने-आप मे मनुष्य स्व-पर का कितना उद्धार कर रहा है? प्रगति और विकास के मार्ग को अपने जीवन मे कितना तय कर रहा है? अपने जीवन मे सूना-सूना तो नही रह रहा है वह? कही अन्धकार मे घिरता तो नही जा रहा है? जितना बाहर मे प्रकाश फैल रहा है, उतना ही अन्दर में भी फैलना शुरू हो गया है, तो उस इन्सान का कल्याण ही कल्याण है।

मैं भगवान् महावीर के बताये साधना-मार्ग मे गृहस्थ के सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ कि गृहस्थ का जीवन, अगर वह संसार मे रहना चाहता है, तो बिना धन के जिन्दगी चलती नही है। इसके लिए अगर वह कुछ कर रहा है बाहर मे, बाहर मे जीवन का सघर्ष कर रहा है, तो वह कोई बुराई का दृष्टिकोण नहीं है। हरेक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह स्वय बाहर में आनन्द मे रहे। अपने परिवार को भी आनन्द मे रक्खे। अपने समाज मे, जिस समाज मे वह रह रहा है, उसको भी आनन्द मे रक्खे और जिस राष्ट्र मे वह रह रहा है उसे भी आनन्द मे रक्खे। और, उसके लिए आवश्यक है कि आनन्द श्रावक की तरह उसका जीवन फूलता-फलता रहना चाहिए। भगवान महावीर ने आनन्द श्रावक के जीवन का वर्णन करते हुए कहा है कि आनन्द अपने उस वाणिज्य ग्राम मे कैसा था—

### “चरचूर”

सारे नगर की आँख था वह एक तरह से। जिस प्रकार आँख का महत्त्व शरीर में है वही महत्त्व आनन्द का था वाणिज्य ग्राम में। आँख मार्ग को ठीक तरह से देखती है और फिर सारे शरीर को उस आँख के पीछे-पीछे चलना पड़ता है। जैसे कि आँख नेतृत्व करती है जीवन का शरीर का, उसकी गति का और उसकी यात्रा का, उसी प्रकार से उस नगर का नेतृत्व आनन्द कर रहा था। [illegible] पर कोई अपरिचित भी आया, तो उसको भी [illegible] आनन्द मिला और अगर कोई परिचित आया, [illegible] का आनन्द मिला।

करने के लिए चिन्तापूर्वक खोज करता रहा। चलते-चलते इस तरह वह कहाँ पहुँचा? वह पाटन पहुँच गया। महाराज सिद्धराज सौलकी की भूमि मे। वहाँ उसे कोई जानता नही, पहचानता नही। एक फटे हाल, पुराने चिथडो मे लिपटा हुआ, अपनी लम्बी यात्रा के बाद सारा शरीर जिसका थक कर चूर-चूर हो गया था। उसे वहाँ कोई जगह नही मिली। कोई इधर उधर बैठने का स्थान नही मिला उसे। उसने वहाँ पूछा यहाँ कोई धर्मशाला या धर्म-स्थान भी है? किसी ने कहा कि यहा एक जैन धर्म-स्थान है। वह वहाँ पहुँच जाता है ओसवाल जैन होने के नाते और बैठ जाता है वहाँ दरवाजे पर।

भक्त लोग दरवाजे से होकर आ रहे है और जा रहे है। अन्दर मे धर्म करने वाले, सामयिक, सवर, पौषध करने वाले या दर्शन करने वाले बड़े-बड़े सेठ-साहूकार भी आ रहे है और बड़ी-बडी सेठानियाँ और श्राविकाएं भी आ-जा रही हैं। वह गहनो की चमक और झनकार, वह कपडो और मूल्यवान् पोशाको की चमक और दमक धर्म-मन्दिर को जरूर गुंजा देती हैं, पर किसी के मन को नही गुंजा पाती है।

इस तरह से अनेक धर्मोपासक आ-जा रहे है। उस दरवाजे से होकर और वह युवक वहाँ चुपचाप शान्त-भाव मे बैठा है। किसी सेठ और किसी सेठानी को उस ओर ध्यान देने का जरा भी अवकाश नही मिला। कोई उस युवक को यह नही पूछ रहा है कि तुम कौन हो? कहाँ से आए हो? किसलिए आए हो? और यहाँ क्यो बैठे हो इस तरह फटे हाल? तुम्हे क्या चाहिए? किसी ने कोई प्रश्न नही किया

और वह स्वाभिमानी युवक स्वाभिमान में डूबा बैठा रहा। उसने ऐसे समय में अपने मुँह को खोलना पाप समझा। वह वहीं बैठा रहा पत्थर की तरह।

इतने में एक बहन आई। उसने देखा उसको। उसने सोचा कि अपने यौवन-काल में पहुँचा हुआ यह युवक इस फटे हाल में यहाँ क्यों बैठा है? सिद्धराज सोलंकी के इस पाटन नगर में भी जो ऐसी स्थिति में रह रहा है तो यह तो कोई विपत्ति में पड़ा हुआ युवक है! इसे पूछना चाहिए कि इस स्थिति में वह यहाँ क्यों बैठा हुआ है? उस बहन ने पूछा — भाई, तुम कौन हो? कहाँ से आए हो और कैसे [illegible]?

नहीं तो जैसे कई रातें इसी प्रकार से भूखे रहकर गुजार दी हैं, तो यह रात भी भूखे रहकर गुजार दूँगा। इसका क्या मूल्य है जीवन में ?

बहन ने कहा मैं अन्दर जाकर अभी आती हूँ। तुम यहीं बैठना इतने।

बहन अन्दर गई और अपना काय सम्पन्न करके जब बाहर आई, तो बोली उस युवक से भाई, अब तुम चलो मेरे साथ। मैं तुम्हारी सेवा करूँगी।

उस युवक ने कहा मैं ऐसे कैसे और कहाँ जा सकता हूँ ? तुम्हारे घर पर मैं कैसे जा सकता हूँ ? जहाँ मेरा कोई परिचय नहीं और न मैंने कोई तुम्हारी सेवा की है। व्यर्थ में यों ही तुम्हारे पर भार बनकर बैठूँ, तो यह चीज मुझे ठीक नहीं जँचती है।

बहन ने कहा भाई, तुम भारत की सभ्यता को जानते नहीं। मैंने तुम्हें भाई कहा और तुमने मुझे बहन कहा। इस रिश्ते से और कोई पवित्र रिश्ता तुम कहाँ तलाश करने चले हो ? अगर कोई भाई, बहन के घर जाता है, तो उस हालत में क्या वह यह कहता है कि मैं अपरिचित के यहाँ कैसे चला जाऊँ ? तुम यह कहते हो कि तुमने कोई काम नहीं किया है, तो इसके लिए भी मैं कहूँ कि अन्य घरों में मजदूरी के लिए जगह हो सकती है, पर कोई भी भाई, बहन के यहाँ मजदूर बनकर नहीं आता। प्रेम और स्नेह के नाते ही आ सकता है। और, अगर यह बहन और भाई का नाता तुम यों ही तोड देना चाहते हो, तो तुम्हारी इच्छा है, अन्यथा इसको अगर स्थायी रूप देना चाहते हो, तो तुम्हें मेरे दरवाजे पर चलना ही पडेगा।

वह बहन ले जाती है उस युवक को घर पर और उसके लिए सभी व्यवस्था करती है। अपने घर पर ही उसे रखती है। उसे कारोबार से भी लगा देती है। अपना एक दूसरा घर उसे दे देती है। वह युवक वहाँ पर प्रगति करता है और अपने जीवन के संघर्ष से आगे बढ़ता रहता है। एक दिन आगे चलकर वह सिद्धराज जयसिंह का उदायन के रूप में प्रधानमन्त्री बन जाता है जिसने गुजरात के अपने शौर्य पराक्रम और यश का डंका पीटा।

से क्षणों मे—जो आते भी है और चले भी जाते हैं—जो सहयोगी बनकर किसी के लिए अवलम्बन बन जाते है, सहारा बन जाते हैं, तो वे व्यक्ति अथवा समाज इस ससार मे अजर, अमर रहते है।

आपके सामने प्रसग चल रहा था कि भगवान महावीर ने कहा कि कुछ जीवन ऐसे भी है, जो कि रूप-सम्पन्न भी होते है और गन्ध-सम्पन्न भी होते है। उस बहन की स्थिति, जिस का नाम लखमी बाई था। ठीक है कि वह कुछ अच्छी स्थिति म थी, इसलिए वह छोटे-से भार को उठा सकी और उस हालत मे उदायन के के जीवन का निर्माण कर सकी। और, जब समग हुआ, तो वह प्रधान मन्त्री के सिंहासन पर बैठा। उसके जीवन का विशाल रूप गुजरात के आगन मे फैलना शुरू हुआ।

लोग जब कभी कहते कि आप इतने बडे है, तो वह कहता मैं तो मिट्टी का ढेला हूँ। जैसे मिट्टी के ढेले की कोई कीमत नही, वह तो यो ही बरबाद हो जाता है, उसी तरह मै भी बरबाद हो जाता जीवन के क्षेत्र ग किसी जगह, लेकिन मुझे अपनी बहन ने बनाया है और उसने मुझे उबारा है विपत्ति के क्षणों से। उन क्षणो मे ऐसे ही सहज भाव मे उसने भाई कहा मुझे और मैंने उसे बहन कहा। जह जो-कुछ भी मेरा ऐश्वर्य है बाहर मे या कि अन्दर मे, उसी बहन के चरणों का प्रताप है। उदायन अपने जीवन-भर अपने जीवन के लक्ष्य को भूला नही, अपनी उस बहन लखमी बाई के ऋण को भी, उसके उपकार को भी भूला नही।

मैं आपसे विचार करता था कि जीवन के क्षेत्र मे रूप-

अपने अन्दर के जीवन का विकास तो करो। अन्दर मे तो वह दया और प्रेम, और स्नेह की सुगन्ध का भण्डार जो छिपा पडा है, उसे एक दिन ससार मे खोल दो और अपने जीवन की महक उसे अर्पण करो। यह सब तो तुम्हारे अधिकार की बात है।

छोटा-सा परिवार भी अगर आपको मिला है और कोई ठीक बाहर के साधन नही मिले है, बाहर मे अगर गरीबी भी मिली है, तो वह बाहर गरीबी तो बुरी नही है, पर मन की गरीबी बहुत बुरी है। बाहर मे गरीब रह सकते हो, पर मन ? मन को भी अगर गरीब बना देते हो, तो उसमे नरक आ जाता है, ससार-भर के दु ख और क्लेश उसमे आकर खडे हो जाते है। पति अलग भटकता है मन की सुगन्ध खो जाने से, पत्नी अलग भटकती है मन की सुगन्ध खो जाने से। भाई-भाई जो हैं, वे अपने-आप मे चाहे गरीब हो, चाहे अमीर हो, पर मन की सुगन्ध खो जाने पर दोनो अलग-अलग किनारे पर भटकते है। पुत्र हो तो क्या, पिता हो तो क्या और भाई-बहन हो तो क्या, कोई भी हो तो क्या ? ार का नक्शा हर मनुष्य के सामने खडा रहता है।

परिवार की कडियों को जोडने को धन ही काफी नही है। मन का ऐश्वर्य भी आवश्यक है। समाज की टूटी हुई कडियो को जोडने के लिए कोई उच्च जाति ही काफी नही है, वैभव ही पर्याप्त नही है जीवन के लिए। ससार का धन और वैभव पाने वाले और बडी-बडी उच्च जाति के पट्टे लगाये फिरने वाले भी आपस मे कुत्तो की तरह से जीवन गुजारते पाए जाते है। अन्दर जो मन का धन और ऐश्वर्य है, वह समाज को, ऐश्वर्य को

चमकाता है और उसे ऊंचा उठाता है। इसी प्रकार किसी राष्ट्र के पास धन और वैभव कितना भी क्यों न हो उसके सारे नगर लंका की तरह सोने के भी क्यों न हो, पर फिर भी लंका के निवासियों को इन्सान होने का वरदान नहीं मिला उनको राक्षस होने का ही वरदान मिला।

इस तरह इन चार रूपों में हर श्रद्धालु को या कि महावीर की वाणी के श्रद्धालुओं को एकान्त में बैठ कर चिन्तन और मनन करना चाहिए और यह मालूम करना चाहिए कि वह वह इन चार फूलों में से कौन-सा फूल है? बाहर की सुगन्ध की अपेक्षा अन्दर की सुगन्ध को देखो कि वह कितनी कम है? जितनी वह कम हो, उतनी की पूर्ति करो उसकी। अगर आप प्रेम और स्नेह की सुगन्ध से जीवन के अन्दर रस की धारा बहाकर अपने-आप में भी उस सुगन्ध का आनन्द लेंगे, परिवार को भी उसकी सुगन्ध लेने देंगे, समाज और राष्ट्र को भी उस सुगन्ध का आनन्द लेने देंगे, तो आपका जीवन भी महकेगा और परिवार, समाज और राष्ट्र का जीवन भी आपकी सुगन्ध से एक अँगड़ाई लेगा।

# पुस्तकालय-विज्ञान

लेखक
द्वारकाप्रसाद शास्त्री
पुस्तकालयाध्यक्ष
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग